श्रीविद्या-सपर्या-वासना

मन्त्र, यन्त्र (चक्र) पूजा आदि की विस्तृत विवेचना

श्रीविद्या-उपासना का आध्यात्मिक रहस्य

श्रीमहा-त्रिपुर-सुन्दर्यै नमः

।। श्रीमहा-त्रिपुर-सुन्दर्यै नमः ।।

श्रीविद्या-सपर्या-वासना

मन्त्र, चक्र (यन्त्र), पूजा की विवेचना

श्रीविद्या-उपासना का आध्यात्मिक रहस्य

अनुवादक

'कुल-मार्तण्ड' पण्डित योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति जी शास्त्री

प्रकाशक

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज (उ०प्र०) २११००६

(दूर-भाष : ५०२७८३)

प्रकाशक
कल्याण मन्दिर प्रकाशन
श्रीचण्डी-धाम,
अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज-२११००६

द्वितीय संस्करण
वैशाख पूर्णिमा, २०६६ वि०
(०९ मई, २००९)

मूल्य : १००.००

मुद्रक
परा-वाणी प्रेस
अलोपी-देवी मार्ग, प्रयाग-राज - २११००६

अनुक्रम

दो शब्द

'**भगवती श्री**' दश महा-विद्याओं में तीसरी हैं। '**श्रीविद्या**' के नाम से ये ज्ञात हैं। '**बाला, ललिता**' और '**श्री राज-राजेश्वरी महा-त्रिपुर सुन्दरी**' इनके रूप हैं। इनके प्रमुख मन्त्र '**त्र्यक्षरी, पञ्च-दशाक्षरी**' एवं महा-षोडशी' नाम से प्रसिद्ध हैं। 'श्रीयन्त्र' इनका अधिष्ठान है। इनका '**तन्त्र**' 'स्वतन्त्र तन्त्र' है अर्थात् अन्य किसी 'तन्त्र' पर आश्रित नहीं है। '**श्रीविद्या**' मोक्ष-करी हैं। '**त्रिशती**' में इनकी महिमा के सम्बन्ध में कहा गया है कि '**जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसी को 'पञ्च-दशाक्षरी' प्राप्त होती है।**'

तन्त्रों में श्रेष्ठ '**तन्त्र**' होने के कारण इस देश के श्रेष्ठ साधक इन्हीं '**विद्या**' के आश्रय में रहे हैं। '**तन्त्र**' अत्यन्त जटिल कर्म-काण्ड-परक और अत्यन्त रहस्य-मय है। भगवान् परशुराम, महर्षि अगस्त्य, उनकी पत्नी लोपामुद्रा, भगवान् दत्तात्रेय प्रभृति अगणित महा-पुरुष इन '**श्रीविद्या**' के उपासक रहे हैं और इनके रहस्यों को उद्घाटित किया है, लेकिन '**परम रहस्य-मयी**' के रहस्य का पूर्ण वर्णन करना क्या सम्भव है? जिनके भृकुटि-विलास-मात्र से अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते हैं, उन्हें कौन जान सकता है?

इधर कुछ दिनों से '**श्रीयन्त्र, मन्त्र**' और '**तन्त्र**' के बारे में लिखना, बात करना और पुस्तक छापना एक फैशन हो गया है, लेकिन इनको पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है, जैसे लेखकों का ज्ञान साधारण भी नहीं है। फिर इनके रहस्य के बारे में उनसे कुछ जानने की आशा करना व्यर्थ ही है।

आज के इस भौतिक-वादी युग में '**यन्त्र, मन्त्र**' और '**तन्त्र**' को प्रायः षट्-कर्म से जोड़ा जाने लगा है, जो नितान्त भ्रामक है। कुछ लोग यह भी प्रचारित करते हैं कि '**मन्त्र, तन्त्र**' '**पञ्च-मकार**' के बिना फल- दायी नहीं होते। यह भी असत्य है। इस प्रकार का अनर्गल प्रचार वे लोग ही करते हैं, जिन्हें '**मन्त्र, तन्त्र**' का ज्ञान नहीं। वास्तव में '**भगवती**' '**सव्य**' एवं '**दक्षिण**'— दोनों मार्गो से पूजिता हैं।

वास्तव में '**रूप**' से '**अरूप**' की यात्रा, '**सगुण**' से '**निर्गुण**' की यात्रा, '**अनेक**' से '**एक**' की यात्रा, '**बन्धन**' से '**मोक्ष**' की यात्रा ही '**तन्त्र की यात्रा**' है और '**श्रीविद्या**' सभी तन्त्रों में अन्तिम हैं। इनके पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता— रह सकता भी नहीं क्योंकि '**श्री**' का साधक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में और अपने को समस्त ब्रह्माण्ड ही मानता है। यह अन्तिम स्थिति है— यही प्राप्य है। फिर शेष रहेगा ही क्या? जैसा कि उपनिषद्-कार कहता है— "**पूर्ण में से पूर्ण घटाओ, तो**

पूर्ण ही शेष रहेगा।'' 'तन्त्र' का एक साधारण साधक भी जानता है कि जो '**पिण्ड**' में है, वही ब्रह्माण्ड में है। विज्ञान तो अब यह समझ सका है— वह भी आधा अधूरा ! '**श्रीविद्या**' के '**तन्त्र**', **मन्त्र**' और '**यन्त्र**' पुस्तकों द्वारा समझे नहीं जा सकते। वह सब तो '**साधना**' का विषय है। हमारे गुरुदेव कहा करते हैं कि '**रसायन-शास्त्र**' बिना '**लैब**' में प्रयोग किए कैसे प्रत्यक्ष होगा? उनका कथन है कि '**तन्त्र**' प्रत्यक्ष विद्या है, लेकिन '**साधना**' की '**रसायन-शाला**' में '**प्रयोग**' करना होगा । तभी परिणाम सामने आएगा। शास्त्रों में बड़ा निषेध है कि इस '**रहस्य-मयी विद्या**' को योग्य '**गुरु**' योग्य सत्पात्र '**शिष्य**' को ही प्रदान करे, अन्य को नहीं— **''राज्यं देयं शिरो देयं, न देयं यस्य कस्यचित्''।**

आज-कल ऐसी बातों को मानना दकियानूसी माना जाता है। वे कहते हैं कि 'कैसी गोपनीयता ? सब तो पुस्तक में छपा ही है।' ऐसे अज्ञानियों से मेरी प्रार्थना है कि '**तन्त्र**' के चक्कर में पड़ कर अपना समय नष्ट न करें।

प्रस्तुत पुस्तक **श्रीविद्या-सपर्या-वासना**' अर्थात् '**श्रीविद्या**' का '**पूजन-क्रम**'। साधारण पाठक, जो केवल जिज्ञासा-शान्ति के लिए इसको पढ़ना चाहेंगे, उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। जो साधक '**भगवती श्री**' के '**पञ्च-दशाक्षरी**' से '**दीक्षित**' हैं, '**श्रीयन्त्र**' में '**आवरण-अर्चन**' करते हुए '**भगवती**' के '**पूजन-क्रम**' से परिचित हैं, उन्हीं के लिए यह पुस्तक उपादेय ही नहीं—अत्यन्त उपादेय है। ऐसी पुस्तक कभी उनको दृष्टि-गत नहीं हुई होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। मुझे यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं कि इस प्रकार की यह '**पहली पुस्तक**' है। इसका महत्व आप इसी से समझ सकते हैं कि मूल लेखकों ने, जो '**साधक-प्रवर**' थे, मूलतः यह पुस्तक '**तमिल भाषा**' में लिखी थी— पुनः इसका अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। लेखक और अनुवादक महोदय—दोनों स्वयं '**श्रीविद्या**' के निष्णात विद्वान् और उत्तम साधकों में थे। अंग्रेजी पुस्तक पर मेरे '**परम गुरु**' **श्री पं० योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्री** कोटद्वार-निवासी की दृष्टि पड़ी, तो उनका अनुवादक महोदय से पत्राचार हुआ। उनके आग्रह पर मेरे परम गुरु ने इसका हिन्दी में स्वतन्त्र अनुवाद किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे परम गुरु उत्तर भारत के '**श्रीविद्या**' के उत्कट साधक और पूर्ण विशेषज्ञ थे। उनके जीवन-काल में यह अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। सन् १९६८ में जब मेरे **पूज्य गुरुदेव पं० पूर्णानन्द मैठाणी** ने मेरी '**दीक्षा**' (क्रम-दीक्षानुसार) का आयोजन किया, तो उन्होंने मुझे आदेश दिया कि मैं '**सपर्या-रहस्य**' का ज्ञान इस पुस्तक द्वारा प्राप्त करूँ। मैंने प्रयत्न किया, लेकिन प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण पुस्तक में मन नहीं लगा। गुरु-कृपा से अब इस

पुस्तक के प्रकाशन का सुअवसर आया। जब पुनः सरसरी दृष्टि से पुस्तक देखी, तो अत्यन्त आनन्द आया— इसका महत्त्व समझ में आया।

पुस्तक के छपाने, प्रूफ देखने में बड़ा परिश्रम किया गया है। प्रयत्न यह हुआ है कि किसी प्रकार की कोई अशुद्धि न रहे। विशेष सतर्कता के कारण ही इसमें कई मास का समय लग गया। यह सारा परिश्रम '**श्रीकुल-भूषण**' **श्री पं० रमादत्त शुक्ल** और **डॉ० विजयनारायण मिश्र** ने किया। इन लोगों के अथक परिश्रम के बिना यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित नहीं हो पाती। वे साधुवाद के पात्र हैं। **श्री ऋतशील शर्मा (ओम जी)** ने पुस्तक की छपाई साज-सज्जा के लिए जो दौड़-धूप की है, वह प्रशंसनीय है।

यह तो मेरा विश्वास है कि परम लीला-मयी के इच्छा के बिना कोई कार्य सम्पन्न ही नहीं हो सकता। वही '**कर्त्ता, क्रिया**' व '**क्रियमाण**' है। वही '**चित्-स्वरूपा**' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का '**आदि**' और '**अन्त**' है। फिर भी, हम इस '**वात्सल्य-मयी**' के पुत्र उसके द्वारा हाथ में दे दिए गए खिलौने से खेल रहे हैं, सांसारिक व्यापार के अनुरूप आभार भी प्रकट करते हैं, प्रसन्नता भी व्यक्त करते हैं, संसार भी चलाते हैं—माँ की ताली और चुटकी पर नाचते-गाते, रोते और हँसते हैं और अन्त में इसकी लोरी सुनते-सुनते सो जाते हैं। आगे की चिन्ता वही करें।

और अन्त में एक '**गूढ़ रहस्य**'। सब समझने, सब पूजन, सब रहस्य जानने के पश्चात् '**साधक**' में '**अकिञ्चनता**' उत्पन्न होती है। वह प्रार्थना करता है—

"ब्रह्मादि देव भी तुम्हारी सपर्या कर सकने में असमर्थ हैं। फिर मैं मृत्यु-धर्मा, अल्प-बुद्धिवाला हे माँ! तुम्हारा पूजन कैसे कर सकता हूँ!"

और जब यह '**अकिञ्चनता**' ही '**साधक की शक्ति**' बनकर फूट पड़ती है, बड़े अधिकार से वह '**माँ**' से कहता है—

पृथिव्यां पुत्रास्ते जननि ! बहवः सन्ति सरलः,
परं तेषां मध्ये विरल - तरलोऽहं तव सुतः।
मदीयोऽयं त्यागः समुचितमिदं नो तव शिवे!,
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥

सभी '**सपर्या**', सभी '**तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र**' का यह सार है। इन शब्दों के साथ यह क्षुद्र पुष्प '**मातृका-मयी, गुरु-मण्डल-रूपिणी श्री माँ**' के चरणों में समर्पित है।

गुरु-पूर्णिमा, २८ जुलाई, १९९९
६ बी, डॉ० लोहिया मार्ग,
प्रयाग (उ०प्र०)

आनन्ददेव गिरि
(आनन्दानन्दनाथ)
दीक्षा-नाम

श्रद्धाञ्जलि

माँ का अनुग्रह समस्त लोकों में सर्वोत्कृष्ट, अनुपम एवं अनमोल वस्तु है, जो सरल-तम होने के साथ ही जगज्जननी की प्रकृति के समान आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त गूढ़ एवं आनन्दात्मक रहस्य-मय भी है। जिस प्रकार बाह्य विचार-धारा से माता का स्वरूप साधारण-सा लगता है, किन्तु उसकी स्नेहिल करुणा-मय कृपा-दृष्टि, अन्तर्भावना एवं दिव्य शक्ति के यथार्थ रूप से अवगत होना इसके विपरीत अत्यन्त जटिल व अगम्य है। उपासना-सम्बन्धी विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों के द्वारा इस परम तेजोमय बिन्दु के सच्चिदानन्द-मय कल्याण-कारी प्रभाव का अनुभव करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इन सभी में आदि-शङ्कराचार्य के काल से लेकर अधुनान्त समय तक एवं सर्वदा समयान्तर-पर्यन्त मोक्ष-प्राप्ति-हेतु श्रीविद्या का स्थान सर्वोत्तम तथा असमानान्तर है।

'**श्रीविद्योपासना**' निगमागम में वर्णित अत्यन्त गुप्त-तम है, जो मन्दाधिकारी उपासक को सांसारिक उपलब्धियों की भी प्राप्ति कराते हुए मध्यमाधिकारी उपासक—उत्तमाधिकारी उपासक को उनके लक्ष्य (मोक्ष) की भी प्राप्ति कराती है। **श्रीविद्या** के मन्त्र, यन्त्र एवं पूजा-सङ्केतों को एक-मात्र सद्-गुरु की कृपा से विधि-वत् अवगत होकर सतत अभ्यास के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा उपासक मृग-मरीचिका की स्थिति में भटकता रहता है।

'**श्रीविद्या-सपर्या**' के मूल ग्रन्थ (तमिल) का अंग्रेजी अनुवाद एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद किए जाने की आवश्यकता के विषय पर वर्णन पृष्ठ ११ पर किया गया है, किन्तु हिन्दी-भाषा में अनुवाद करने की उत्कृष्ट अभिलाषा विद्वान्-प्रवर एवं तपस्वी गुरुदेव पं० **योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति जी शास्त्री** के हृदय में जागृत हुई। यद्यपि **पूज्य गुरुदेव** द्वारा हिन्दी भाषा में अनुवादित यह ग्रन्थ उनके जीवन-काल में ही पूर्ण हो गया था, तथापि कतिपय अपरिहार्य

कारण-वश प्रकाशित नहीं हो सका। समस्त सम्बन्धित हिन्दी पाठक, पात्र-जिज्ञासु एवं उपासकों को यह ग्रन्थ उनके ज्ञान-वर्धन एवं उनकी उपासना-सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण करने में मार्ग-दर्शन करेगा। हिन्दी-भाषा में अनुवादित इस ग्रन्थ का प्रकाशन, अनुवादक एवं मेरे प्रातः-स्मरणीय गुरुदेव के प्रति एक श्रद्धाञ्जलि मात्र है। हम यहाँ उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करते हैं।

— पूर्णानन्द मैठाणी

१२०/१२४ लाजपतनगर, कानपुर (उ० प्र०)
गुरु-पूर्णिमा, २०५५ वि०— ९-७-१९९८

❑ ❑ ❑

ब्रह्मश्री ए० नटराज ऐयर

अंग्रेजी अनुवादक की प्रस्तावना

यह पुस्तक '**ब्रह्म-विद्या-विमर्षिणी सभा**' के संस्थापक सभापति **श्री० एन० सुब्रह्मण्य ऐयर** द्वारा **तमिल भाषा** में लिखित '**श्रीविद्या-सपर्या-वासना**' नामक पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद है। सभापति ने अपने व्याख्यान के अवसर पर **श्रीविद्या** की पूजा के भिन्न-भिन्न खण्डों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि अथवा दार्शनिक अर्थ की जो व्याख्या सभासदों को सुनाई है, उसी के भाव इस पुस्तक में एकत्रित किए गए हैं। देवनागरी अक्षरों में पूर्ण प्रकाशित '**श्रीविद्या-सपर्या-पद्धति**' नामक पुस्तक में **श्रीविद्या** की पूजा-विधि दी गई है। यह पुस्तक उसी की सहचरी है तथा जो उसमें प्रतिपादित किया गया है, उसी के विषय में यह पुस्तक विचार प्रकट करती है।

मूल पुस्तक, **तमिल भाषा** में होने के कारण **तमिल** भाषा-विज्ञ कुछ जिज्ञासुओं के अतिरिक्त शेष उपासकों को लाभ-प्रद नहीं है। अतः इस पुस्तक का भाषान्तर में अनुवाद करना नितान्त आवश्यक समझा गया है। ऐसा करने से उक्त पुस्तक उन उपासकों की बड़ी मण्डली में पहुँच सकती है, जो निष्काम, अनवरत दीर्घ-कालीन पूजा के सतत अभ्यास व उसके सत्य के विषय में पूछते आए हैं, जिसका वे अभ्यास कर रहे हैं। यह पुस्तक उन लोगों के लिए भी हो सकती है, जिन्होंने अनुचित आधारवाली इस विषय-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर इसकी पूजा-विधि के विषय में ऐसी भावनाएँ धारण कर ली हैं, जो इसके **तत्त्व-ज्ञान** को ठीक समझने के लिए हानि-कारक हैं।

'**सभा**' की अभिलाषा है कि आवश्यकतानुसार **तमिल** और **अंग्रेजी** के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी इसका अनुवाद किया जाए, यतः अन्य उपासक भी इस पुस्तक से लाभ उठा सकें। सर्व-प्रथम इस पुस्तक का **अंग्रेजी** में अनुवाद किया गया है। इसका कारण दर्शाने के लिए इतना कथन पर्याप्त होगा कि वर्तमान समय में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अन्वेषण यहाँ तथा स्थानान्तर के विद्वानों के लिए मनोरञ्जक हो रहा है। अतएव इसके प्रत्येक विभाग में बड़ा भारी अन्वेषण किया जा रहा है।

तान्त्रिक साहित्य की ओर न केवल भारतीय विद्वान् अपितु पाश्चात्य विपश्चित् भी पर्याप्त ध्यान दे रहे हैं। प्रत्येक पुस्तकालय **तान्त्रिक साहित्य** से परिपूर्ण है। **संस्कृत** तथा **हिन्दी**-माध्यम की अपेक्षा अधिक लोग **अंग्रेजी** माध्यम के द्वारा **तान्त्रिक** विषय का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। वर्तमान **तान्त्रिक साहित्य** प्रत्येक अंश में पूर्ण होने पर भी '**वासना-सम्बन्धी**' पुस्तकों से अभी रिक्त ही है। ऐसी पुस्तकें **तन्त्रों** के वास्तविक ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। यतः **वासना-सम्बन्धी** पुस्तकें अपने **तत्त्व-ज्ञान** को खोलकर पाठक के सामने रख देती हैं। आशा है कि यह अपने प्रकार की एक ही अग्रसर पुस्तक होगी, जो भारतीय प्राचीन सम्प्रदाय के पुनर्जीवन के लिए वर्तमान सन्तान में प्रकट इस प्रकार की उत्कट अभिलाषा का अनुसरण करेगी। उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त अन्य किसी कारण ने इस **तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी** पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद करने के लिए मुझे विवश नहीं किया है।

यद्यपि इस अनुवाद के कार्य-भार को अपने ऊपर लेने के लिए मैं सहमत न था, किन्तु दो कारणों ने मुझे इसके लिए बाध्य किया है। उनमें से प्रथम यह है कि इसके अनुवाद के लिए अन्य सदस्यों के सहमत न होने तथा '**सभा**' का सेक्रेटरी होने के कारण इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेने के अतिरिक्त इस कार्य को करने के लिए 'न' नहीं कर सकता था। दूसरा यह कि सभापति की मेरे ऊपर सर्वदा एक-रूप ऐसी कृपा रही है, जिसके कारण मैंने विचारा कि मैं कम-से-कम इस कार्य को कर अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन कर सकूँ। मुझमें स्थिर-चिन्तना और अनुभव की कमी थी, किन्तु भाग्य-वश दो महानुभाव मुझे ऐसे सहायक मिले, जो निश्चयतः उपर्युक्त बातों में परिपूर्ण थे।

स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी **ब्रह्मश्री एस० आर० स्वामी शास्त्री** जी ने निजी दैनिक कार्य-क्रम को त्याग कर हस्त-लिखित तथा प्रथम मुद्रण का ऐसी सावधानी से अध्ययन किया, जिससे विदित हो गया कि प्रत्येक कार्य नियमानुकूल चल रहा है। आपने इस कठिन कार्य को कई मास पर्यन्त किया है। विश्व-विद्यालय के संस्कृत छात्रों में लब्ध-प्रतिष्ठ, उपासक-प्रवर **ब्रह्मश्री शङ्कर राम शास्त्री, एम० ए०, बी०एल०** ने अशेष विषय के अध्ययन में तथा आवश्यकतानुसार शब्द तथा वाक्यों के परिवर्तन में महती प्रसन्नता के साथ सहायता की है। स्वेच्छा-पूर्वक अपने ऊपर कार्य-भार लेकर उक्त दोनों

महानुभावों ने मेरे कार्य को सु-व्यवस्थित बना दिया। अतः इस पुस्तक के प्रकाशन में उक्त सज्जनों ने जो सहायता की है, उसके लिए धन्यवाद देने को **'सभा'** तथा मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं।

मैंने इस कार्य के अवसर पर शब्दानुसाधन के लिए **आप्टे का संस्कृत कोष, प्रोफेसर कुप्पू स्वामी शास्त्री का तर्क-संग्रह, गायकवाड़-संस्कृत-सीरीज** का **सिद्धान्त-बिन्दु**— इन तीन पुस्तकों की सहायता ली है। उक्त पुस्तकें संस्कृत दार्शनिक शब्दों तथा उपयुक्त अंग्रेजी-सम्बन्धित पर्याय शब्दों के अर्थ-प्राप्ति हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं।

'ब्रह्म-विद्या-विमर्षिणी सभा' अपने दायित्व एवं उपलब्धि का, यदि बहुत नहीं, तो थोड़ा-सा अनुभव अवश्य ही करेगी—यदि यह पुस्तक तथा इसके दूसरी भाषाओं में प्रकाशित संस्करण उपासकों के हृदय में उच्च-तम दिव्य जीवन के विषय में अधिक ज्ञान की अभिलाषा को प्रकाशित करेंगे।

—'ब्रह्मश्री' ए० नटराज ऐयर

सचिव
'ब्रह्म-विद्या-विमर्षिणी सभा'
मद्रास

❑ ❑ ❑

'ब्रह्म-विद्या-विमर्षिणी सभा' के अध्यक्ष की

भूमिका

मैं इस भूमिका-लेखन के अधिकार को अपूर्व और असुलभ इसलिए नहीं समझता कि मैं स्वयं अपने को इस पुस्तक के लेखक के समान—जो **'श्रीविद्या'**- विषय के मर्मज्ञ हैं तथा इस पुस्तक की प्रस्तावना को स्वयं ही उचित रीति और योग्यता के साथ लिख सकते हैं—मानता हूँ, किन्तु इसलिए कि लेखक ने सानुनय मुझसे इस भूमिका के लिखने की प्रार्थना की है। इस प्रार्थना को मैं उनके आदेश के समान मानकर उसकी प्रतिष्ठा करता हूँ। यह प्रार्थना लेखक के शुभ नाम के साथ मुझे संयुक्त करने का सुअवसर प्रदान करती है और विश्व-माता के चरणारविन्दों की पूजा के लिए म्लान एवं सुगन्ध-रहित पुष्पों को समर्पण करने में समर्थ बनाती है।

मैंने इसका प्रारम्भ **श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी** के शुभ दिवस पर किया है। ऐसी उत्तम पुस्तक की **प्रस्तावना** के लिए कैसा उपयुक्त अवसर है! **भगवान् श्रीकृष्ण** ने अपने अवतार ग्रहण करने के पूर्व **भगवती** के अवतार लेने की अभिलाषा की है और संसार को अपने अवतरण के लिए उद्यत किया। **भगवती** से **यशोदा की पुत्री** के रूप में अवतार धारण करने की **भगवत्-प्रार्थना** के रहस्य को कौन अवगत करा सकता है?

अथाऽहमंश-भागेन, देवक्या पुत्रतां शुभे!
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां, नन्द-पत्न्यां भविष्यति॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां, सर्व-काम-वरेश्वरीम्।
धूपोपहार-बलिभिः, सर्व-काम-वर-प्रदाम्॥
नाम-धेयानि कुर्वन्ति, स्थानानि च नरा भुवि।
दुर्गेति भद्रकालीति, विजया वैष्णवीति च॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा, माधवी कन्यकेति च।
माया नारायणीशानी, शारदेत्यम्बिकेति च॥

(श्रीमद्-भागवत, १०.२.९-१२)

इतना ही नहीं, **भगवती** ने गोप-कन्याओं के ऊपर भी कृपा की, जिन्होंने **भगवान् कृष्ण** का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए **भगवती** से प्रार्थना की कि—हे माता! आप हमारे ऊपर **भगवान् कृष्ण** का अनुग्रह कराने की कृपा करें।

कात्यायनि महा-माये! महा-योगिन्यधीश्वरि!
नन्द-गोप-सुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः॥
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः, पूजां चक्रुः कुमारिकाः।
एवं मासं व्रतं चेरुः, कुमार्यः कृष्ण-चेतसः॥
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान् नन्द-सुतः पतिः।
उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्ध-बाहवः॥
कृष्णमुच्चैर्जगुः यन्त्यिः, कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्।

(श्रीमद्-भागवत-१०.२२.४-६)

अपिच **रुक्मिणी देवी** ने **भगवती** की स्वयं पूजा की कि **भगवान् कृष्ण** वहाँ आकर उन्हें स्वीकार करें और अपनी पत्नी बनाने के लिए उन्हें ले जाएँ। यह सब उन्होंने अपने प्रसिद्ध पत्र में लिखकर उनसे कहा था—

अन्तःपुरान्तर-चरीमनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्वहे कथमिति प्रवदाम्युपायम्।
पूर्वेद्युरस्ति महती कुल-देवि-यात्रा, यस्यां बहिर्नव-बधुर्गिरिजामुपेयात्॥

(श्रीमद्-भागवत-१०.५२.४२)

इसके अनन्तर **रुक्मिणी** देवी के मन्दिर में गईं और उनके अनुग्रह एवं सहायता के लिए प्रार्थना की—

आसाद्य देवी-सदनं, धौत-पाद-कराम्बुजा।
उपस्पृश्य शुचिः शान्ता, प्रविवेशाम्बिकाऽन्तिकम्॥
तां वै प्रवयसो बालां, विधिज्ञा विप्र-योषितः।
भवानीं वन्दयांश्चक्रुर्भव-पत्नीं भवान्विताम्॥

(श्रीमद्-भागवत-१०.५३.४४-४५)

देवी-पूजा को इस प्रकार **भगवान् कृष्ण** ने स्वयं बड़ा महत्त्व दिया है। वह इस लोक और परलोक—दोनों में तथा इस समय और उस समय अर्थात् दोनों अवसरों पर समस्त मङ्गलों की (अभ्युदय और निःश्रेयस्) देनेवाली है। वह अपने पुत्रों के लिए स्नेह, क्षमा और आशीर्वाद-स्वरूपा है। वह परमानन्द-दायिनी (शिव-ज्ञान-प्रदायिनी) है। वह सर्व-शक्तिमान, सर्व-व्यापी और सर्वज्ञ ब्रह्म की प्रकाशिका (अभिव्यञ्जिका) है। यह **केनोपनिषद्** के आश्चर्य-जनक उपाख्यान से भी प्रकट होता है—

स तस्मिन्नेवावकाशे स्त्रियमाजगाम बहु-शोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति। सा ब्रह्मेति होवाच।

सैषा प्रसन्ना वरदा, नृणां भवति मुक्तये।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतु-भूता सनातनी॥

इस पुस्तक में लेखक का उद्देश्य हमको **भगवती** के निकट (**अम्बिकाऽन्तिकम्**) पहुँचाने का है। वे **तन्त्र-शास्त्र** में परम योग्य तथा **देवी-पूजा-विषय** में विशेष विद्वान् हैं। हमारे विषय में जो आवश्यक है, वह यह है कि हम मनसा, वाचा और कर्मणा पवित्र हों तथा हममें स्थिरता, पवित्रता और शान्ति भरी हुई हो, अर्थात् हम स्थिर, शुचि और शान्त हों। इस पुस्तक के रचयिता ने **देवी-उपासना** का पूर्णतया वर्णन करनेवाले **परशुराम कल्प-सूत्र, सौभाग्य-रत्नाकर, सौभाग्य-चिन्तामणि** और **उमानन्दनाथ** की **नित्योत्सव-पद्धति** से सहायता ली है। **नित्योत्सव** नामक पद्धति में **श्रीविद्या-पूजा-विषय** के एकादश भाग हैं। अतएव इस पुस्तक के भी एकादश भाग किए गए हैं। इसके **उपोद्घात** में लेखक ने **शिव-दृष्टि** का प्रमाण दिया है, जिसमें लिखा है कि "**श्री-चक्र के बहिर्दशार में 'गुरु' की, अन्तर्दशार में 'श्रवण' की, वसु-कोण में 'मनन' की, त्रिकोण में 'निदिध्यासन' की और बिन्दु में 'जीव और ब्रह्म की एकता' की प्राप्ति का अनुभव करते हैं।**" इस प्रकार **श्रीविद्या** प्रत्यक्ष **ब्रह्म-विद्या** ही है। बाह्य **चक्र-पूजा** द्वारा भी समस्त मानसिक शक्तियों की आहुति **ब्रह्म-ज्ञान** की पवित्र अग्नि में पहुँचानी चाहिए— **आत्म-संयम-योगाग्नौ, जुह्वति ज्ञान-दीपिते।**

(श्रीमद्-भगवद्-गीता-६.२७)

ये उत्कृष्ट और अनन्त फल-दायक (अमोघ) विचार लेखक की इस पुस्तक में आदि से अन्त तक सर्वत्र दर्शाए गए हैं। जो उपासक इस जगत् में बाह्य रूपों पर सानुराग आसक्त रहता है, वह स्वीकार करेगा कि यह दृश्य यथार्थ है। जो **आध्यात्मिक विद्या** का विद्वान् उपासक विचारों पर अवलम्बित रहता है, वह **अदृश्य** पदार्थों की मान्यता स्वीकार करेगा। तथ्य यह है कि **दृश्य अदृश्य** की देहली है अर्थात् **मूर्ति** एक सञ्चालक पवित्र **स्थान** (तीर्थ) तथा चिह्न और एक प्रकार का ध्वज-स्तम्भ है और **शरीर आत्मा का मन्दिर** है। **यास्काचार्य** कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु की व्याख्या (अर्थ-विचार) तीन **नियमों** के अनुसार हो सकती है अर्थात् **आधि-भौतिक, आधि-दैविक** और **आध्यात्मिक** नियम पर की जा सकती है तथा इन दृष्टि-कोणों में परस्पर

विरोध आ जाने के लिए कोई युक्ति-युक्त कारण नहीं है। यह केवल **अनन्त परमेश्वर** है, जो **अपरा प्रकृति** के स्वरूप में है और **परा-प्रकृति** उसमें प्राण-सञ्चालन का काम करती है। लेखक **परा-पूजा, परापरा-पूजा** और **अपरा-पूजा** में उचित रीति से निम्न-लिखित भेद दर्शाता है—

जो उपासक परमेश्वर को विषय-आश्रित वास्तविकता के रूप में पहचानता है अर्थात् परमात्मा को अपने से भिन्न समझता है, वह **अपरा पूजा** को पसन्द करता है। **अपरा पूजा** के उपासक को परमात्मा को अपने मनोनिष्ठ माननेवाले **परा-पूजा** के उपासक के लिए भला-बुरा नहीं कहना चाहिए, यतः उसका मन परमात्मा का मन्दिर है और परमात्मा उसके हृदय-मन्दिर में हैं।

परा चाप्यपरा गौरी, तृतीया च पराऽपरा।
प्रथमाऽद्वैत-भावस्था, सर्व-प्रचय-गोचरा।

मन्त्र, यन्त्र (चक्र) और **पूजा** के भेद से **श्रीविद्या** का स्वरूप तीन प्रकार का है। अपनी पवित्रता में **पञ्च-दशाक्षरी मन्त्र** और **गायत्री मन्त्र** का समान महत्त्व है, किन्तु **पञ्च-दशाक्षर मन्त्र गायत्री मन्त्र** की अपेक्षा अधिकतर गुप्त रखा गया है। ग्रन्थ-कार कहता है तथा दर्शाता भी है कि **पञ्चदशी-मन्त्र** में वही सत्य भरा हुआ है, जो '**तत्त्वमसि**', '**अयमात्मा ब्रह्म**' और '**अहं ब्रह्मास्मि**' इत्यादि **महा-वाक्यों** में है। **श्रीचक्र** '**परा**' और '**अपरा**' प्रकृति का प्रति-रूप है और परमात्मा की शक्ति दोनों प्रकृतियों में प्राण-शक्ति का सञ्चार करती है। **कामेश्वर** और **कामेश्वरी (श्रीललिता) बिन्दु-चक्र** को अपनी स्थिति से आत्म-शक्ति प्रदान करते हैं, जो (बिन्दु-चक्र) संसार-चक्र का केन्द्र है। मनुष्य का मस्तिष्क सदा शरीर से एकता स्थापित करने के लिए तथा विश्व को अहङ्कार से ग्रहण करने के लिए उद्यत रहता है, किन्तु यदि हम मानसिक केन्द्रों को इनसे हटाकर परमात्मा में लगाएँ, तो हम यह अनुभव कर सकते हैं। **आत्मा** और **संसार** परमात्मा के प्रकाश हैं—**ईशावास्यमिदं सर्वम्।** **श्रीचक्र-पूजा** हमको उक्त अनुभव की ओर ले जाएगी। इसका प्रारम्भ **बाह्य पूजा** से करना चाहिए और अनन्तर में यह पूजा आन्तरिक अनुभव में परिणत होकर नित्य अनन्त महदानन्द को प्राप्त हो जाती है। ग्रन्थ-कर्ता प्रतिपादित करता है कि पाप और वासनाओं के कारण **महा-वाक्योपदेश** सिद्धि-प्रद नहीं होता है, तो **श्रीविद्योपासना** का अभ्यास अवश्यमेव करना चाहिए। **'दीक्षा'—परमात्मा और मनुष्य के मध्य एक सम्बन्ध है और दीक्षा** प्रभावोत्पादक प्रकार से गुरु द्वारा ही दी जा सकती है।

दीयते शिव-सायुज्यं, क्षीयते पाश-बन्धनम्।
अतो दीक्षेति कथितं, बुधैः सच्छास्त्र-वेदिभिः॥

शाक्त मत के अनुसार ग्रन्थ-कार द्वारा ३६ **तत्त्वों** (संसार के पदार्थों) का विश्लेषण परिव्यक्त और व्यापक है। **षट्-त्रिंशत् तत्त्व** निम्न-लिखित प्रकार हैं—

१. आत्म-तत्त्व चौबीस (२४) हैं, अर्थात् **पाँच स्थूल तत्त्व** (स्थूल का कारण), **पाँच तन्मात्राएँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन** (जिसमें तमोगुण की अधिकता होती है), **अहङ्कार** (रजोगुण-प्रधान), **बुद्धि** (जिसमें सत्त्व गुण की प्रबलता होती है) एवं **प्रकृति** (जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं)। इन तत्त्वों से शरीर बनता है। **'पुरुष'** मन के साथ सम्बन्ध करनेवाला **'जीव'** कहा गया है। यही **'जीव'** कर्त्ता और भोक्ता होता है। **कर्त्ता** और **कर्म**—इन दो का कारण केवल **'माया'** है। ये २४ तत्त्व **'अशुद्ध तत्त्व'** कहलाते हैं।

२. विद्या-तत्त्व सात (७) हैं, अर्थात् **माया, पाँच कञ्चुक** (आवरण) और **पुरुष**। **१. कला, २. अविद्या, ३. राग, ४. काल** और **५. नियति**—इन पाँच कञ्चुकों (आवरणों) द्वारा **'माया'** कार्य करती है और उक्त पाँच कञ्चुक **क्रिया-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति, चित्-शक्ति** और **आनन्द-शक्ति** को क्रमशः आच्छादित करते हैं अर्थात् मलिन बना देते हैं। **शुद्ध-विद्या** इन आवरणों को दूर करती है। ये सात तत्त्व **'शुद्धाशुद्ध'** कहलाते हैं।

३. शिव-तत्त्व पाँच हैं—१. शुद्ध-विद्या, २. ईश्वर, ३. सदा-शिव, ४. शक्ति और **५. शिव**। ये **'शुद्ध तत्त्व'** कहे जाते हैं। इनमें से **'शुद्ध-विद्या'** विश्व और आत्मा तथा **परमात्मा** का भेद-भाव दूर कर देती है। **ईश्वर-तत्त्व** जगत्-सम्बन्धी **ज्ञान** (संविद्) है। **सदा-शिव-तत्त्व** अनन्त (अपरिमित) आनन्द-मय **आत्म-ज्ञान** (आत्म-संविद्) है। **शक्ति शिव** की रचना करनेवाली (उत्पादक) इच्छा है। **शिव** स्वाधीन है, जो **शक्ति** के साथ एक है।

ऊपर कहा गया विश्लेषण **पदार्थ-क्रम** को माननेवाले **सांख्य-दर्शन** और सामान्य **वेदान्त-दर्शन** से अति उत्तम है। **सांख्य-दर्शन** परस्पर-विरुद्ध द्वैत-भाव से परिपूर्ण है तथा उस उच्च-तर दृष्टि-कोण-पर्यन्त पहुँचने के लिए असमर्थ है, जहाँ **कर्त्ता** और **कर्म** दोनों ही विलीन हो जाते हैं। **अद्वैत-मत** में

संसार के **असत्यता** की सत्यता है (यद्यपि शाङ्कर भाष्य **यथार्थ-वाद** और बाह्य **शून्य-वाद** में अधिकरण व सङ्गति करने का प्रयत्न करता है) तथा **अद्वैत-मत** के अधिष्ठान में '**माया**'-विषयक '**घृणा**' का भाव और **अहं-भाव** विद्यमान है। **विशिष्टाद्वैत-मत** में भी उस **परमात्मा** का विचार नहीं है, जो अपने **सूक्ष्म** अथवा **स्थूल** रूप में संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। **द्वैत-मत** में अनेकता है और **प्रकृति** पृथक् सिद्धान्त के समान अलग खड़ी रहने पर **परमात्मा** के अधीन और उसकी आज्ञा-कारिणी है। **शाक्त-मत** में '**शक्ति**' '**अभिव्यक्ति**' और '**व्यञ्जना**' (प्रकट कर देना) का सिद्धान्त है तथा वह '**शक्ति**' **शिव** से आविर्भूत होकर शक्ति-शाली प्रेम के रूप में केवल '**आनन्द**' के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, जो **विश्व की उत्पत्ति** करने का प्रयत्न करती है और प्रत्येक **आत्मा** को **मोक्ष-प्राप्ति** के लिए समर्थ बना देती है। **पति-पत्नी** का अत्यन्त '**प्रवृद्ध-प्रेम**' शिशु के ऊपर विभक्त होने पर कभी क्षीण नहीं होता, वरन् ऐसे **प्रत्यक्ष विभाजन** के कारण और भी बढ़ जाता है। इस बात को **कवि कालिदास** ने अपने '**रघु-वंश**' नामक महा-काव्य के तृतीय सर्ग के चौबीसवें पद में सौन्दर्य-मय रूप से वर्णित किया है—

रथाङ्ग-नाम्नोरिव भाव-बन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येक-सुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥

अतः संसार **दिव्य प्रेम** का प्रत्यक्ष प्रमाण है। **शाक्त-मत** एकता और अनेकता की एकता करता है तथा **दृश्य पदार्थों** की वास्तविकता और **परमात्मा** की **अज्ञेय सत्यता** को सन्धित करता है, जो (**परमात्मा की अज्ञेय सत्यता**) उसके (**शाक्त-मत** के) भीतर रहती है तथा उसे स्थिर रखकर उसके भीतर प्रविष्ट हो जाती है। आत्मा **कार्मिक, मायिक** और **आणव** मलों से युक्त अपने आवरणों में **जीव** कहलाती है और उक्त आवरणों से निर्मुक्त होकर '**शिव**' कहलाती है—

'**शरीर-कञ्चुकितः शिवो, जीवो निष्कञ्चुकः पर-शिवः**' आध्यात्मिक जीवन का ध्येय एवं लक्ष्य अपरिमित **महदानन्द की प्राप्ति** है।'

इस पुस्तक का मुख्य विषय '**भगवती की पूजा**' का स-विस्तार वर्णन है। इस प्रकार की '**पूजा**' का विस्तार यथार्थ और श्लाघ्य रीति से किया गया है। सबसे पूर्व हमको मौन-पूर्वक '**याग-मन्दिर**' में प्रवेश करना चाहिए। '**सानुशय**' (पश्चात्ताप-पूर्ण) '**हृदय**' और '**पवित्र मनोवृत्ति**' की उतनी ही

आवश्यकता है, जितनी 'पूजा' की 'बाह्य सामग्री' की आवश्यकता। नहीं, पूर्वोक्त वस्तुएँ 'बाह्य सामग्री' से अधिक-तर आवश्यक हैं।

श्रेयान् द्रव्य-मयाद् यज्ञात्, ज्ञान-यज्ञः परन्तप!
ज्ञान-यज्ञोडुपेनैव, ब्राह्मणो वाऽन्त्यजोऽपि वा।।
संसार-सागरं तीर्त्वा, मुक्ति-पारं हि गच्छति॥

(गीता, ४.३३)

मोक्ष के द्वार की रक्षा करनेवाले '**भद्रकाली, भैरव**' और '**गण-पति**' हैं। ग्रन्थ-कर्ता कहता है कि इनका आध्यात्मिक रूप **वेदान्त-ज्ञान, मानसिक शान्ति** और **आध्यात्मिक शान्ति** है। '**योग-वाशिष्ठ**' में भी उल्लेख किया गया है—

मोक्ष-द्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परि-कीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधु-सङ्गमः॥

तदनन्तर हम आचमन कर '**गुरु-मन्त्र**' का उच्चारण करते हैं। **गुरु-मन्त्र** के महा-वाक्य निम्न-लिखित प्रकार हैं—

हंसः शिवः सोऽहम्। सोऽहं हंसः शिवः। हंसः शिवः सोऽहं हंसः।

'**द्वादश बीजाक्षर**' नीचे दिए गए हैं—

ह् स् ख् फ्रें ह् स् क्ष् म् ल् व् र् यूं

'**गुरु-मन्त्र**' का उच्चारण तथा उसका ध्यान '**मृगी मुद्रा**' द्वारा करना चाहिए, जिससे मानसिक एकाग्रता की प्राप्ति में हमें सहायता प्राप्त हो सके।

घण्टी का बजाना—'**नाद**', हमारी सहायता के लिए देवताओं का आवाहन करता है और '**नादानुसन्धान**' तथा '**नादालय**' को सूचित करता है। तदनु हमें—**प्राणायाम, सङ्कल्प** और **आसन-पूजा** यथा-क्रम करनी चाहिए। '**ऐं ह्रः अस्त्राय फट्**'—इस मन्त्र से **देह-शुद्धि** करनी होती है। सम्पूर्ण शरीर की शुद्धि कर उसमें '**श्री-चक्र**' की भावना करनी चाहिए अर्थात् अपने शरीर को '**श्री-चक्र**' समझना चाहिए—

"देहो देवालयः प्रोक्तो, जीवो देवः सनातनः।"

सम्पूर्ण **श्रीनगर** जिस प्रकार विश्व में ब्रह्माण्ड का आविष्कार और पूजित **श्री-चक्र** में साङ्केतिक व्यञ्जना रखता है, उसी प्रकार मनुष्य-शरीर में ब्रह्माण्ड-सम्बन्धिनी स्पष्टता रखता है। ग्रन्थ-कर्त्ता **श्रीचक्र** की रचना करनेवाले निर्दिष्ट प्रकार से (**श्रीचक्र-घटक**) अङ्गों (अवयवों) का स्पष्ट विषद वर्णन करता है—परिसर-स्थित **अमृताम्भो-निधि, रत्न-द्वीप, कल्प-वृक्ष, महोद्यान,**

नाना-विध प्राकार, **बालातपोद्गार** और **चन्द्रातपोद्गार, चिन्तामणि गृह-राज, चतुर्देव-मय मञ्च-पादों** से युक्त **मणि-मय सिंहासन** और **सदा-शिव-मय मञ्च-फलक** के ऊपर विराजमान **महा-त्रिपुर-सुन्दरी**। पाठकों को मुझे इसी दिव्य ज्योतिर्मय उद्यान में अपना मार्ग ढूँढने को छोड़ देना चाहिए।

पुस्तक के **दूसरे खण्ड** में **भूत-शुद्धि** का वर्णन है, जो इस भौतिक शरीर को शाम्भव शरीर बना देती है। **आत्मा** अविद्या से मुक्त होकर शुद्ध और तेजस्वी बन जाता है, इसी को **आत्म-प्राण-प्रतिष्ठा** कहते हैं। यह प्राण-प्रतिष्ठा **'आं सोऽहं'** मन्त्र से की गई है। इसके अनन्तर हमको **प्राणायाम** करना चाहिए और आत्म-प्राप्ति में विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

तीसरे खण्ड में **न्यासों** का वर्णन है। हमको इसका अनुभव करना चाहिए कि **देवी** का शरीर **अकार** से **क्षकार**-पर्यन्त **वर्ण-माला** से बना हुआ है। वही **मातृका-न्यास** है। लेखक ने अन्य बहुत से न्यासों का वर्णन किया है।

चतुर्थ खण्ड में **पात्रासादन** अर्थात् पात्रों का यथा-स्थान स्थापन करना बतलाया गया है। **पञ्च-मकार** (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा एवं मैथुन) का आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है— **मद्य**—ज्ञानामृत, **मत्स्य**—आत्म-निग्रह, **मांस**—पुण्य एवं पाप-हनन (नाश), **मुद्रा**—प्रत्येक वस्तु का ब्रह्म में लय करना तथा **मैथुन**—जीव व ब्रह्म की एकता है—

आमूलाधारमाब्रह्म-रन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः।
चिच्चन्द्र-कुण्डली-शक्ति-सामरस्य-सुखोदयः॥
व्योम-पङ्कज-निष्यन्द-सुधा-पान-रतो नरः।
सुधा-पानमिदं प्रोक्तमितरे मद्य-पायिनः॥
मनसा चेन्द्रिय-गणं, संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राणि-हिंसकाः॥
पुण्यापुण्य-पशुं हत्वा, ज्ञान-खड्गेन योग-वित्।
परे लयं नयेच्चित्तं, पलाशी स निगद्यते॥
परा-शक्त्यात्म-मिथुन-संयोगानन्द-निर्भरः।
य आस्ते मिथुनं तत्, स्यादपरे स्त्री-निषेवकाः॥

(कुलार्णव)

पाँचवें खण्ड में लेखक 'अन्तर्याग' आदि का वर्णन करता है। अन्तर्याग देव-मूर्ति व चक्र-पूजन आदि अखण्ड ज्योति-पूजा के भेद से दो प्रकार का है। तेजस्विनी शक्ति को जागृत कर उसे मूलाधार से लेकर ब्रह्म-रन्ध्र-पर्यन्त पहुँचाना ही विशेष फल-दायक 'पूजा' कहलाती है अर्थात् कुण्डलिनी को जगाकर उसे मूलाधार से ब्रह्म-रन्ध्र में पहुँचाना ही पूजा का विशेष लाभ है। इसका वर्णन भगवान् शङ्कराचार्य भी सौन्दर्य-लहरी (श्लो० ९) में करते हैं—

महीं मूलाधारे कमपि मणि-पूरे हुत-वहं,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रू-मध्ये सकलमपि भित्त्वा कुल-पथं,
सहस्त्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥

गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य तथा नीराजन की सहायता से की जानेवाली बाह्य-पूजा आभ्यन्तरिक पूजा का बाह्य प्रतिबिम्ब है। इसके अनन्तर पुस्तक-प्रणेता दश मुद्राओं के गुप्त अर्थ की व्याख्या करता है। कुछ पद्धतियों में पूजा के 'उपचार' पाँच, कुछ में षोडश और कुछ में चतुष्षष्टि (चौंसठ) बताए गए हैं। 'पञ्चायतन'—सूर्य, देवी, विष्णु, गणेश एवं महेश-पूजा—अद्वैत-मतावलम्बियों का दैनिक नियम है।

षष्ठ खण्ड में 'नवावरण-पूजा' का पूर्ण वर्णन है। श्रीचक्र में बिन्दु से भूपुर-पर्यन्त 'नव-चक्र' हैं और षट्-त्रिंशत् तत्त्वों से बने हुए हैं। ग्रन्थ-कर्ता श्री ललिता देवी के करों में विराजमान 'आयुधों' के गुप्तार्थ की व्याख्या करते हैं तथा षड्-दर्शन पूजा, षडाधार-पूजा और षडाम्नाय-पूजा के विषय पर भी प्रकाश डालते हैं। ऋग्, यजुः, साम, अथर्व—ये चार वेद 'षडाम्नाय' हैं और ये षडाम्नाय उपनिषदों के स्पष्ट अर्थ और गुप्त अर्थ (अस्पष्ट) को प्रकट करते हैं।

सप्तम खण्ड में काम-कला-ध्यान का वर्णन किया गया है। 'अहं'-शब्द 'काम-कला' का निरूपण करता है और 'ई'-कार भी काम-कला को बतलाता है।

अष्टम खण्ड 'बहिर्याग' का तथा 'अन्तर्याग' का वर्णन करता है, जिसमें 'मन' का 'आत्मा' में 'होम' किया जाता है—

पुण्य-पापे हविर्देवि! कृत्याकृत्ये हविः प्रिये !
सङ्कल्पं च विकल्पं च, धर्माधर्मौ हविस्तथा ॥
जुहुयात् परमेशानि ! आत्माग्नौ मनसा स्रुचा। (ज्ञानार्णव)
अन्त् र्निरन्तरमनिन्धन - मेधमाने,
मोहान्धकार-परिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुत-मरीचि-विकास-भूमौ,
विश्वं जुहोमि वसुधादि-शिवावसानम् ॥

नवम खण्ड में 'बलि-दान, प्रदक्षिणा, नमस्कार, जप' और 'स्तोत्रों' का वर्णन किया गया है। इनका वर्णन 'पूजा' की समाप्ति का सूचक है तथा 'सुवासिनी-पूजन' सपर्या को पूरी कर देता है।

दशम एवं एकादश खण्ड में यथा-क्रम 'पूजा-समर्पण' और 'शान्ति-स्तव' का निरूपण है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ बृहत् ज्ञान और आचार्यत्व का द्योतक है। अतएव यह जनता से अत्यन्त प्रशंसा किए जाने योग्य है। शाक्त-मत के विषय में बहुत कम ज्ञान होने के कारण हमें शाक्त-धर्म की प्रभा को अपने मस्तिष्क में लाने के लिए बहुत-सी पुस्तकों की आवश्यकता है। हमें देवी से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह अपनी छाया को हमारे ऊपर प्रदर्शित करे, जिससे हम उसकी स्तुति और पूजा करने में समर्थ हों और उसके तेज (प्रकाश) का अनुभव करें और देवी प्रत्येक के हृदय में अपनी पूजा का दीपक प्रकाशित करें।

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरि-हर-विरिञ्च्यादिभिरपि,
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृत-पुण्यः प्रभवति ॥
(सौन्दर्य-लहरी, १)

— के० एस० रामास्वामी शास्त्री
अध्यक्ष,
'ब्रह्म-विद्या-विमर्षिणी सभा'

मद्रास,
२६ अगस्त, १९४०

❑ ❑ ❑

पण्डित योगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति जी शास्त्री

हिन्दी अनुवादक की प्रस्तावना

विक्रमी संवत् २००२ (सन् १९४३) के '**चण्डी**'-पत्रिका के प्रथमाङ्क में हमने गुहानन्द-**मण्डली** के संस्थापक उपासक-प्रवर **श्रीसुब्रह्मण्य ऐय्यर** द्वारा लिखी गई पुस्तकों की चर्चा की थी, जिनमें से एक पुस्तक '**श्रीविद्या-सपर्या-वासना**' नाम की है। यह पुस्तक आपने **तमिल भाषा** में लिखी है। मण्डली के सेक्रेटरी **ए० नटराज ऐय्यर**, बी० ए० महाशय ने इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी भाषा में किया है। '**चण्डी**'-पत्रिका द्वारा मित्रता होने पर मण्डली के संस्थापक **श्रीसुब्रह्मण्य** ऐय्यर महामना ने '**श्रीविद्या सपर्या वासना**' के **अंग्रेजी अनुवाद** को हमारे पास भेजा था और लिखा था कि मैं आपको इस पुस्तक का **हिन्दी-अनुवाद** करने के लिए उपयुक्त पुरुष समझता हूँ। अत: आप इस पुस्तक को पढ़िए और इसका अनुवाद कीजिए।

अस्तु, आपकी उक्त आज्ञा को शिरोधार्य कर हमने अनुवाद-कार्य-सम्बन्धी अनधिकार चेष्टा करने का दु:साहस किया है। **श्रीविद्या-रहस्यज्ञ** तथा आंग्ल-भाषा-भिज्ञ और हिन्दी-भाषा-मनीषी हमें क्षमा करेंगे, यत: हमारे तीनों विषय अपूर्ण हैं।

इस पुस्तक में **श्रीविद्या की पूजा का आध्यात्मिक रूप** बड़ी योग्यता के साथ दर्शाया गया है। **याग-मन्दिर में प्रवेश** से लेकर **शान्ति-स्तव** और **विशेषार्घ्योपासना** पर्यन्त इसके **एकादश खण्ड** हैं। प्रत्येक खण्ड के प्रत्येक विषय का आध्यात्मिक रूप बड़ी विवेचना और गवेषणा के साथ प्रतिपादित किया है। विवेचना में ग्रन्थकार ने **नित्याषोडशिकार्णव, उपनिषद्, तन्त्र-शास्त्र, मन्त्र-संहिता, भाषा, काम-कला-विलास** आदि अनेक ग्रन्थों के प्रतीक उद्धृत किए हैं।

इस पुस्तक की भूमिका, जो लेखक द्वारा स्वयं लिखी गई है, चालीस पृष्ठों में है। यहाँ पर पहले उसी का अनुवाद '**विषय-प्रवेश**' के रूप में दिया जा रहा है, फिर मूल पुस्तक के **एकादश खण्डों का हिन्दी-अनुवाद** दिया जाएगा।

विषय-प्रवेश

'**श्रीविद्या-सपर्या-वासना**' अथवा '**परा-पूजा-वासना-विमर्श**' उच्चतम श्रेणी की 'पूजा' का परिणाम है। इसी का दूसरा नाम '**श्रीविद्योपासना**' है। यह (श्री-विद्योपासना) '**आत्मा**' का '**ब्रह्म**' के साथ '**एकता के सम्पादन**' का लगातार '**अभ्यास**' करना है। '**पूजा**'— **१. परा** (उत्तम), **२. अपरा** (साधारण) और **३. परापरा** (मध्यम) भेद से तीन प्रकार की है—

परा चाप्यपरा गौरि! तृतीया च परापरा।
प्रथमाऽद्वैत-भावस्था, सर्व-प्रचर-गोचरा॥

(योगिनी-हृदय, ८.२३)

'**पूजा**' का सबसे बड़ा स्वरूप, जिसमें किसी प्रकार की **द्वैत-भावना** का चिह्न नहीं है अर्थात् जहाँ पर प्रत्येक '**विचार, शब्द**' अथवा '**अर्थ**' स्वयं पूजा है, '**परा-पूजा**' नाम से कहा जाता है। पूजा के जिस प्रकार में **अद्वैत-भाव** का कोई चिह्न नहीं है और पूजक (उपासक) **बाह्य चक्र** एवं **मूर्ति** को अपने से भिन्न समझकर उसकी पूजा करता है, वह '**अपरा पूजा**' के अभिधान से प्रसिद्ध है। जिस पूजा के प्रारम्भ में अनुभव की गई **द्वैत-भावना** का निरन्तर **ऐक्य-ध्यान** से शनैः शनैः एकता में विलय किया जाता है, वह '**परापरा**' नाम की पूजा मानी गई है।

द्वैत-भान-सामान्या भावे 'परा', अद्वैत-भान-सामान्या भावे 'त्वपरा'।
द्वैत-विलयाभ्यास-दशायां, परापरेति पूजा-त्रय-लक्षणानि॥

सपर्या सर्व-भावेषु, सा 'परा' परिकीर्तिता।
'अपरा' तु बहिर्वक्ष्यमाण-चक्रार्चना-विधिः॥
'परापरा'ऽस्य बाह्यस्य, चिद्-व्योम्नि विलयः स्मृता।
इत्थं त्रिधा समुद्दिष्टा, बाह्याभ्यन्तर-भेदतः॥

सौन्दर्य-लहरी के निम्न-लिखित २७ वें पद में **भगवान् शङ्कराचार्य** जी ने **परा पूजा** करनेवाले उपासक की '**मनोवृत्ति**' प्रत्येक विचार को पवित्र करनेवाली बतलाई है और दिखलाया है कि उपासक अपनी **दिन-चर्या, विचार, शब्द** और **कर्म** को उपहार के स्वरूप में निरन्तर **परा पूजा** में निवेदन करता रहता है अर्थात् **परा पूजा** करनेवाला अपनी **दिन-चर्या** को **जगदम्बा** की भेंट में समर्पण कर देता है—

जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्रा-विरचना,
गतिः प्रादक्षिण्यं क्रमणमशनाद्याहुति-विधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पण-दृशा,
सपर्या-पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

अर्थात् हे माता! मेरी बातें तुम्हारे **मन्त्र-जप** में, मेरे कार्य—जिन्हें मैं अपने हाथों से सम्पादित करता हूँ, वे कार्य तुम्हारे **मुद्रा-प्रदर्शन** में, मेरा गमन तुम्हारी **परिक्रमा** में, भोजन और पान **आहुति-प्रदान** में, लेटना **साष्टाङ्ग प्रणाम** में, मेरे समस्त सुख **आत्म-समर्पण** करने में और इसके अतिरिक्त जो भी मैं करता हूँ, वह सब तुम्हारी **पूजा** में परिणत हो।

निम्न-लिखित पद्य में भी यही विचार दर्शाया गया है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं,
पूजा ते विषयोपभोग-रचना निद्रा समाधि-स्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिण-विधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो! तवाराधनम्॥

योग-शास्त्र इस '**परा पूजा**' की अवस्था को **ऋतम्भरा प्रज्ञा** कहता है अर्थात् जिस अवस्था में दृश्य वस्तुओं को पहचाननेवाली उपासक (पूजक) की **ज्ञानेन्द्रियाँ** अपनी दृश्य वस्तुओं के **नाम** और **रूप** को त्याग कर उनके (दृश्य पदार्थों के) वास्तविक निष्कर्ष (असली निचोड़) **सच्चिदानन्द** को ग्रहण करती हैं, वह अवस्था **ऋतम्भरा प्रज्ञा** के नाम से कही जाती है। इस प्रकार की '**परा पूजा**' (उत्कृष्ट पूजा) में सबसे अधिक भाग '**मन**' के द्वारा दिया जाता है अर्थात् '**मन**' से सम्पादित होती है। अतएव यह '**पूजा**' स्पष्ट-तया थोड़े से ही निपुण **उत्तमाधिकारियों** द्वारा सम्भव हो सकती है अर्थात् '**मन**' के द्वारा '**सम्पादित**' की जानेवाली '**परा पूजा**' को कतिपय **उत्तमाधिकारी** ही कर सकते हैं—

"सर्वेन्द्रिय-जन्येषु ज्ञानेषु ये विषयास्तेषु सच्चिदानन्दांशस्यानुगतस्य भानं, न त्वनुगतयोर्नाम-रूपयोः। इदम् ऋतम्भरा-ज्ञानमिति प्रसिद्धम्। सा पूजा 'परा'-नाम्नीति कथ्यते।"

योग्यता-क्रम के अनुसार '**परा पूजा**' के अनन्तर '**परापरा**' पूजा आती है। यहाँ पर '**अपरा पूजा**' करनेवाले उपासक का यह विचार है कि वह संसार से भिन्न नहीं है और गुण तथा दोषों की विवेचना करनेवाले '**मन**' के

द्वारा '**आन्तरिक जगत्**' अपने आप शनैः शनैः शुद्ध हो जाता है। प्रारम्भिक विशेषताएँ रखनेवाले '**मध्यमाधिकारी**' उपासक के लिए इस प्रकार की **मानसिक उन्नति** की दशा सम्भव हो सकती है। '**ब्रह्म**' के साथ अपनी (मध्यमाधिकारी की) '**एकता**' का निरन्तर चिन्तन करना **पृथकता के भाव का नाशक** है। '**मनन**' और '**निदिध्यासन**' अर्थात् '**निरन्तर चिन्तन**' ही उचित समय पर '**मध्यमाधिकारी**' उपासक को '**परा पूजा**' करनेवाले '**उत्तमाधिकारी**' की अवस्था में पहुँचने के लिए समर्थ बना देता है। **परापरा पूजा** का स्वरूप यथोचित रीति से बनाने के लिए '**पूजा**' और '**पुष्पादि के समर्पण**' की तुलना **यज्ञ में घृताहुति** के दृष्टान्त द्वारा की गई है अर्थात् जिस प्रकार यज्ञ में आहुतियाँ दी जाती हैं, उसी प्रकार **पूजा** में **गन्धाक्षत, पुष्प** आदि अर्पित किए जाते हैं—

प्रकाशैक-घने धाम्नि, विकल्पान् प्रसवादिकान्।
निक्षिपाम्यर्चन-द्वारा, वह्नाविव घृताहुतीः॥

अन्तिम पूजा '**अपरा पूजा**' है। यह केवल उपासक के सम्मुख स्थित किसी **चक्र (यन्त्र)** अथवा **प्रतिमा** की पूजा है। इसके लिए पद्धति के अनुसार आवश्यक सामग्री एकत्रित की जाती है और वह उचित मन्त्रों द्वारा विधि-पूर्वक **मूर्ति** अथवा **यन्त्र** को समर्पित की जाती है। इस '**पूजा**' का निर्देश अर्चना प्रारम्भ करनेवाले (अभ्यासी) '**मन्दाधिकारियों**' के लिए किया गया है—

अपरा तु बहिर्वक्ष्यमाण-चक्रार्चना-विधिः॥

'**पूजा**' यजन अथवा यज्ञ है। उसी को **सपर्या** अथवा **पूजन** कहते हैं और इसी का नाम '**उपासना**' अथवा '**निरन्तर ध्यान**' भी कहा जाता है। **श्रीविद्या** की प्राप्ति—**ब्रह्मात्मैक्य**—प्रसिद्ध उपासना का लक्ष्य—ब्रह्म के साथ आत्मा की एकता की प्राप्ति (**ब्रह्मात्मैक-चिदुपास्ति**) है। इस **उपासना** के **घटक** (निर्माता)—**१. नियम व मन्त्र २. प्रतिमा अथवा यन्त्र** और **३. वैधिक** (विध्यनुकूल) किंवा **पूजा-विशेष—ये तीन अङ्ग** हैं अर्थात् इस उपासना के **१. मन्त्र, २. यन्त्र** और **३. पूजा**—ये तीन अवयव हैं। जिस प्रकार वाक्य की रचना करनेवाले पद-समूह का अर्थ समझे बिना वाक्यार्थ अवगत नहीं होता है, उसी प्रकार जब तक '**उपासना**' के अवयवों (अङ्गों) का अर्थ न समझा जाए, तब तक सम्पूर्ण '**उपासना**' के अङ्गों के अर्थ का ज्ञान होना भी कठिन

है। अतः सबसे प्रथम हमें उपासना के '**तीन अङ्गों**' के आध्यात्मिक अर्थ की जिज्ञासा करना नितान्त आवश्यक है। यतः हम समस्त उपासना का अर्थ—**ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना** (अखण्डानुसन्धान) समझ सकें।

श्रीविद्योपासना के प्रत्येक अङ्ग का गुप्त आध्यात्मिक रहस्य '**सङ्केत**' नाम से व्यवहृत किया जाता है—**१. मन्त्र-सङ्केत, २. चक्र-सङ्केत** और **३. पूजा-सङ्केत**। इन तीनों सङ्केतों का **वामकेश्वर तन्त्र** के **योगिनी-हृदय** नाम से प्रसिद्ध **षष्ठ, सप्तम** और **अष्टम विमर्श** (अध्याय) में पूर्णतया वर्णन किया गया है। इन **सङ्केतों की संक्षिप्त व्याख्या** निम्न-लिखित प्रकार से है—

१ मन्त्र-सङ्केत

श्रीब्रह्म-विद्योपासना का आवश्यक अङ्ग **पञ्च-दशाक्षरी मन्त्र** है। यह सर्वदा गुप्त रखा गया है। मूल कारण **सच्चिदानन्द ब्रह्म** की प्राप्ति के लिए परमेश्वर ने **चतुर्दश विद्याएँ** वितीर्ण की हैं। ये विद्याएँ **चार वेद, छः वेदाङ्ग, न्याय, मीमांसा, पुराण** और **धर्म-शास्त्र** हैं। इन विद्याओं में से **वेदों** का सबसे अधिक महत्त्व है। **वेदों** के अनेक मन्त्रों में **गायत्री** और **पञ्चदशाक्षरी मन्त्र** अत्यन्त गुप्त और महत्त्व के हैं। इन दोनों में से **गायत्री** का वर्णन अस्पष्टता से पूर्णतया किया गया है अर्थात् स्पष्टास्पष्ट भाषा में किया गया है। कुछ स्पष्ट है और कुछ अस्पष्ट। **पञ्चदशाक्षरी मन्त्र** का निरूपण केवल भंग्युक्ति लक्षणा से **साङ्केतिक पदों** द्वारा किया गया है। जैसे '**कामः, योनिः, कमला वज्र-पाणिः**।' '**चत्वार ईं विभ्रति क्षेमयन्तः**' इत्यादि। मानों कि स्वयं भगवान् वेद-पुरुष ने इस विद्या को स्वयं अत्यन्त गोपनीय बनाया है। यह भी विचारणीय है कि इस **मन्त्र** की व्याख्या करते हुए **आदि-शङ्कराचार्य** ने उपनिषदों की गोपनीयता का विधान किया है, किन्तु यह विधान केवल '**मन्त्र-परक**' है। जैसे यह मन्त्र **तीन ककार, तीन लकार, तीन ह्रींकार, दो हकार, दो सकार** और '**ए**' तथा '**ई**'—इन बीजों से बना है।

त्रि-कलाढ्यां त्रि-हृल्लेखां, द्वि-ह-स-स्वर-भूषिताम्।
यो जपत्यम्ब! ते विद्यां, सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

हमने भी इस **पञ्चदशाक्षर मन्त्र** को अपने '**नरेन्द्र-वंश**' नामक काव्य के अष्टम सर्ग के ७५वें पद्य में उलट-फेर कर निम्न-लिखित श्लोक में इस प्रकार से रखा है—

ए, ई, ककार गुण (३) और लकार तीन,
ह्रींकार तीन, ह-स-युग्म-युत त्रिकूट-
को, 'ई' त्वदीय मनु का मन में भवानी,
हैं नित्य जाप करते जप-यज्ञ वाले॥

पञ्चदश अक्षरों की उत्पत्ति (मूल), प्रकृति, उच्चारण और महत्त्व इत्यादि की व्याख्या **'मन्त्र-सङ्केत'** के नाम से प्रसिद्ध है। इस **'मन्त्र'** का पूर्ण वर्णन **'वरिवस्या-रहस्य'** के अन्तर्गत **'योगिनी-हृदय'** के ७वें विमर्श में तथा **'मन्त्र'** के आध्यात्मिक अधिष्ठान (पृष्ठ-भूमि) पर विचार करनेवाले बहुत से ग्रन्थों में (वासना-ग्रन्थों में) किया गया है। यहाँ जितना सम्भव हो सका, संक्षेप में **मन्त्र का अर्थ** देने का प्रयत्न किया गया है। **मन्त्रार्थ** के विचार करने से यह देखा जा सकता है कि उपनिषदों के **'तत्त्वमसि'** इस उपदेश **महा-वाक्य** के समान **पञ्च-दशाक्षरी मन्त्र** भी तीन भिन्न-भिन्न भागों (कूटों) से बना हुआ है अर्थात् जिस प्रकार **"तत् त्वं असि"**—यह वाक्य तीन खण्डों से बना हुआ है, उसी प्रकार **पञ्चदशी मन्त्र** भी **'कूट-त्रय-घटित'** है।

प्रथम कूट (क ए ई ल ह्रीं)

क = **'अविद्या'** से उत्पन्न अर्थात् **'ब्रह्म'** में अध्यारोपित।

ए = हे **चित्-शक्ति**! तुम **'माया'** से ऊपर (परे) हो।

ईल = दूर करो।

ह्रीं = **'द्वैतता'** का पूर्ण ज्ञान (भेद-वृत्ति)

"तुम अविद्या से उत्पन्न अर्थात् पृथकता के भाव को नष्ट करो, जिसने मुझे यह अनुभव कराया है कि मैं केवल जीव हूँ।" अर्थात् जीव का अनुभव करानेवाले **'अविद्या'** से उत्पन्न मुझमें विद्यमान **'पृथकत्व के भाव'** का नाश करो। अतः **पञ्च-दशाक्षरी** का यह **प्रथम कूट** निरूपण करता है कि **जीव** अपने वाच्यार्थ में **'महा-वाक्य'** का **"त्वं"** लक्ष्यार्थ में **'अविद्या'** से दूर होने से **कूटस्थ** हो जाता है।

इस प्रकार **पञ्च-दशाक्षरी** का प्रथम कूट **'महा-वाक्य'** में **"त्वं"** पद की व्याख्या करता है।

द्वितीय कूट (ह स क ह ल ह्रीं)

हस = प्राप्त कराओ।

क (स्य) = ब्रह्म का।

हल (स्य) = जो सर्व-व्यापक है।

ह्रीं = ज्ञान।

"मायोपाधि को दूर करके मुझे अनुभव कराओ कि मैं यथार्थ में सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ।" जब यह मायोपाधि ब्रह्म के ऊपर अध्यारोपित होती है, तो यह उसे ईश्वर बना देती है। यहाँ महा-वाक्य के 'तत्' शब्द का वाच्यार्थ 'ईश्वर' और लक्ष्यार्थ 'ब्रह्म' का निरूपण किया गया है।

तृतीय कूट (स क ल ह्रीं)

सकल= अखण्ड एकता

ह्रीं = ज्ञान

अखण्ड एकता का भाव (अखण्डाकार-वृत्ति)। महा-वाक्य से निरूपित यह वह विचार है, जिसमें जगत्, जीव और ब्रह्म की एकता की प्राप्ति होती है। मन्त्र के इस तृतीय कूट से महा-वाक्य के "असि" पद का निरूपण होता है।

यह पञ्च-दशाक्षरी मन्त्र का गूढ़ अर्थ है। इस प्रकार मन्त्र और महा-वाक्य का स्वरूप एवं अर्थ एक ही है। अतएव जो मन्त्र के अर्थ को समझता है और जो ब्रह्म के साथ अपनी एकता करने में समर्थ होता है, वह अवश्य ही ब्रह्म हो जाता है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ भी इसी प्रकार कहती हैं—

मन्त्र-सङ्केतस्य वेत्ता श्रीविद्या-मन्त्र-रहस्य-भूत-पर-भावना-प्रणाशित-मोह-जालः परम-शिव एव भवति।

अर्थात् मन्त्र-सङ्केत का जाननेवाला श्रीविद्या के मन्त्र की रहस्य-स्वरूपमयी 'पर-भावना' से मोह-जाल को उच्छिन्न कर पर-शिव हो जाता है।

२. चक्र-सङ्केत

'चक्र' शक्तियों का एक समूह है। उनकी प्रकृति आदि का वर्णन 'सङ्केत' कहा जाता है। उसकी व्याख्या पूर्व ही की गई है। दूसरे शब्दों में, शक्तियों का विशेष ज्ञान ही 'चक्र-सङ्केत'-शब्द से व्यवहृत होता है। ये शक्तियाँ किसकी हैं? इस प्रश्न के उठने पर इसका उत्तर श्रुति और स्मृति निम्न-लिखित प्रकार से देती हैं—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते—स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च।
देवी ह्येकाऽग्र आसीत्—सैव जगदण्डमसृजत।
यदा सा परमा शक्तिः, स्वेच्छया विश्व-रूपिणी।
स्फुरत्तामात्मनः पश्येत् ,तदा चक्रस्य सम्भवः॥

(योगिनी-हृदय, ६.९.१०)

नैसर्गिकी स्फुरत्ता विमर्श-रूपाऽस्य वर्तते शक्तिः।

(वरिवस्या-रहस्य, १.४)

जिस क्षण में **देवी विस्तार और स्फुरत्ता** में अपनी **स्वाभाविक प्रकृति** का **चिन्तन** (ध्यान) करती है, उसी समय **जगत्** और **पर-स्वरूप**—यह **प्रपञ्च** अथवा **संसार-चक्र**, जो **देवी** में विलीन रहता है, **आविर्भूत** हो जाता है तथा कुछ समय **विलीनावस्था** में रहकर पुनः **पूर्व-वत् उद्भूत** होता है।

तत्र प्रलयो नाम—अनन्त-शक्तिकस्य ब्रह्मणः स्वरूप-मात्रेण कञ्चित् कालमवस्थानम्।

इस प्रकार **समस्त विश्व**, जो **चित्-शक्ति** के ऊपर एक **काल्पनिक (मायिक) अध्यास** है, वह **अधिष्ठान (सत्ता) देवी** में विलय हो जाता है और पुनः पुनः जीवों को **धर्माधर्म-रूपी** अदृष्ट के अनुसार **फल-भोग** का अवसर प्रदान करने के लिए उद्भूत हो जाता है। **कैवल्योपनिषद्** उत्थान का निरूपण-प्रबोध करता है—

''पुनश्च जन्मान्तर-कर्म-योगात् स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।''

यह **'प्रबोध' एकता का अथवा अहन्ता का उत्थान** है। इस प्रकार की **अहन्ता** तब सम्भव हो सकती है, जब **आत्मा** के अतिरिक्त एक-कालावस्थित (सह-वर्ती) किसी वस्तु (**इदन्ता**) का ज्ञान हो। अतः यह **अहन्ता** का प्रबोध (ज्ञान) भेदावस्था में (सविकल्पक) आगन्तुक है। इसलिए **'चक्र' मैं और यह**— इस प्रकार के आकार का है अर्थात् **'अहमिदमाकार'**-स्वरूप है।

इस **आत्म-स्फुरण से (अहन्ता के ज्ञान से)** परमेश्वर जगत् और देहों का निर्माण कर अपने आप उनमें प्रवेश करता है। संसार (जगत्) के जीवों के लिए मन और **कारण-मय देह (स्थूल, सूक्ष्म, कारण)** जीवों के कर्मानुसार उनके (जीवों के) लिए **भोगायतन शरीर** प्रदान करता है। इस प्रकार यह **विश्व**, जो **'चक्र'** के रूप में अथवा **पूजा के चिन्ह** में है, अन्ततः केवल **परमात्मा** की इच्छा का प्रकाशन **सत्य** है—**''इच्छा-मात्रं प्रभोः सृष्टिः।''** इसकी और खुले शब्दों में यह व्याख्या होगी कि **यह विश्व मन की कल्पना मनोमय सृष्टि है**। पुनः **शब्द-मय** और **अर्थ-मय-भेद** से इसके दो भाग किए जा सकते हैं। इस **द्विविध चक्र** के निर्माण का वर्णन **'काम-कला-विलास'**, **'योगिनी-हृदय'** के अन्तर्गत **'चक्र-सङ्केत'** में पूर्णतः किया गया है। **भावनोपनिषद्** में **श्री-चक्र** का विशिष्ट अर्थ बड़ी निपुणता से दिया है।

श्रीचक्र का इन सब स्थानों में **ब्रह्माण्ड** अथवा **पिण्डाण्ड** के रूप में वर्णन आता है, तथापि यह केवल **स्थूल भावना** है। '**मन**' स्वयं वास्तविक **श्रीचक्र** है, यह अति सूक्ष्म और परम **रहस्य-मय अर्थ-बोधन** है। इसका निरूपण नीचे किया जाएगा।

भावनोपनिषद् के अनुसार **सोपाधिक ब्रह्म** और **सच्चिदानन्द** की मूल तथा व्यक्ति-गत आत्मा का आश्रय (आधार) उसकी—'**ब्रह्म की विमर्श शक्ति—श्री ललिता**' क्रमशः **कामेश्वर** और **कामेश्वरी** हैं, जो **श्रीचक्र** के बिन्दु में निवास करते हैं।

"निरुपाधिक-संविदेव कामेश्वरः सदानन्द-पूर्णः स्वात्मैव पर-देवता ललिता॥"

कामेश्वरी और **कामेश्वर** के **अभेद-योग** का सामरस्य '**काम-कला**' है। ये दोनों क्रम से **प्रकाश** और **विमर्श** कहे जाते हैं। इनके **सामरस्य** (**काम-कला**) से **मिश्र बिन्दु** उत्पन्न हुआ, जिसका नाम '**अपरा-बिन्दु**' भी कहा जाता है। इस **अपरा बिन्दु** से ही **त्रिकोण, अष्ट-कोण, दशार-युग्म, चतुर्दशार, अष्ट-दल, षोडश-दल, त्रि-वलय** और **चतुरस्त्र-त्रय** - युक्त **श्रीचक्र** का निर्माण हुआ है।

'**सृष्टि**' के सम्बन्ध में दो मत हैं—एक **सृष्टि-दृष्टि-वाद** और दूसरा **दृष्टि-सृष्टि-वाद**। प्रथम मत के अनुसार यह समस्त जगत् और उसके प्राणी **ईश्वर की जीव-शक्ति** द्वारा निर्मित किए गए हैं और दूसरे के अनुसार संसार जैसा विदित होता है, केवल उस क्षण में पैदा हुआ है, जिस क्षण में **जीव "रस्सी में सर्प" की भाँति उसका अनुभव करता है**। **अद्वैत वेदान्त** ने **अन्त में इस दूसरे मत** को ही स्वीकार किया है और **उत्तमाधिकारियों** के लाभार्थ इसका प्रतिपादन भी किया है। अब **अद्वैत वेदान्त** के मतानुसार **ब्रह्माण्ड अथवा पिण्डाण्ड** का निरूपण करनेवाला **श्री-चक्र** केवल **मन की सृष्टि** है। अतः यावत् काल-पर्यन्त '**मन**' कार्य करता रहता है, तब तक **शरीर और जगत्**— दोनों ही हैं और जब '**मन**' कोई कार्य नहीं करता, तब तो न **शरीर** है और न **विश्व** है। दोनों में से कोई भी नहीं रहता। **स्वप्नावस्था** में मन अपना कार्य करता रहता है और **भोग्य जगत्, भोगायतन** (शरीर) और **भोक्ता** (जीव), जो **अहम्-भाव** के रूप में प्रतीत होता है—**सब विद्यमान** रहते हैं, किन्तु **सुषुप्तावस्था** में **मन** कोई काम नहीं करता है। अतः इन तीनों (**भोग्य, भोगायतन, भोक्ता**) में से किसी का भी अनुभव नहीं होता है।

यतः बिन्दु-अधिष्ठान में विद्यमान कामेश्वर विशुद्ध ज्ञान है और कामेश्वरी स्वयं आत्मा है, जो पूर्णतया सदानन्द है। बिन्दु स्वयं अध्यास है, अतः वह अनात्मा है। इसलिए श्रीचक्र को बनानेवाले बिन्दु तथा त्रिकोण आदि अन्य चक्र मन और उसकी (मन की) वृत्तियाँ हैं। इस भाव का समर्थन वामकेश्वर तन्त्र तथा अन्य बहुत से ग्रन्थ-कारों ने किया है—

विश्व-विषयक-स्फूर्ति-जनिका या मनोवृत्तयस्ता एव क्रमेण चतुरस्रादि-बिन्दु-चक्रान्त-क्रमेण विद्यमानाः शक्तयो ज्ञेयाः।

करणेन्द्रिय-चक्रस्थां, देवीं संवित्-स्वरूपिणीम्।
विश्वाहंकृति-पुष्पैस्तु, पूजयेत् सर्व-सिद्धये॥

यदि श्रीचक्र का विशिष्टार्थ विश्व अथवा केवल शरीर ही हो, तो ये दोनों ईश्वर-सृष्टि के भाग बनेंगे और कभी नष्ट नहीं होंगे। प्रलय में भी इनका सम्पूर्ण-तया नाश न होगा। मोक्ष के अत्यन्ताभिलाषी उपासक को सम्पूर्ण जगत् दुःख-पूर्ण विदित होता है तथा उसे अपना शरीर भी अरुचिकर प्रतीत होता है। समस्त शास्त्रों की सम्मति है कि इस प्रकार के भाव केवल मन के कारण ही उत्पन्न होते हैं। शरीर और जगत् में साधारण जीव का 'मैं' और 'मेरा'—यह अध्यास यथा-क्रम मन के कारण होता है। यही जीव-सृष्टि है।

यावत्-काल-पर्यन्त ये अध्यास विद्यमान रहते हैं, तावत्-काल-पर्यन्त जीव दुःख का अनुभव करता है। यदि दुःख दूर हो जाता है, तो अध्यासों का विनाश हो जाता है। इनका विनाश भी केवल मनोवृत्तियों का ही परिणाम हो सकता है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः" अर्थात् मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण केवल उनका मन है। यह एक प्रामाणिक लोकोक्ति है। अपने आपको बाहर देखने का स्वभाव (बहिर्मुखी वृत्ति) अपवित्र मन के बन्धन के कारण बनता है। स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष, अन्तर्मुख-वृत्तिवाले मन की ही शुद्धता से प्राप्त होती है। उपनिषद् कहता है कि जो अपने आपको ब्रह्म से अभिन्न समझता है, वही संसार से पार होता है (तरति शोकमात्म-वित्)। इसलिए मोक्षार्थी को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अध्यात्म-शास्त्र का मनन नितान्त आवश्यक है। इस शास्त्र में जगत्, जीव और 'पर' की गवेषणात्मक विवेचना की गई है। अतएव यह अध्यात्म-शास्त्र कहा जाता है। मोक्षार्थी को अध्यात्म-शास्त्र के परिशीलन द्वारा शरीर-त्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) का निरूपण (जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति) और पञ्च-कोषों का ज्ञान तथा अपने में आत्म-दर्शन करना चाहिए।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिषु स्फुट-तरा या संविदुज्जृम्भते सैवाहं।

इतना ही नहीं, वरन् उसको यह देखने के लिए समर्थ होना चाहिए कि वह **ब्रह्म-मूर्ति-धारी** जीवों की **चौरासी लक्ष योनियों** में, पिपीलिका से ब्रह्म-पर्यन्त, पृथिव्यादि पञ्च-भूत, सूर्य और चन्द्र—इन सबमें विद्यमान है।

या ब्रह्मादि-पिपीलिकान्त-तनुषु प्रोता।
जगत्-साक्षिणी सैवाहं न च दृश्य-वस्तु।।

इस प्रकार के परिशीलन के लिए **सत्त्व-प्रधान मन** और **प्रत्यग्-दृष्टि** आवश्यक हैं। **श्रीचक्र** वास्तविकता में **सत्त्व-प्रधान मन** का निरूपण करता है और **योगिनी-हृदय** उस **उत्तमाधिकारी** के लिए ही **जीवन्मुक्ति** का निरूपण करता है, जो **श्रीचक्र** के उपर्युक्त आशय को जानता है।

एवमेव महा-चक्र-सङ्केतः परमेश्वरि!
कथितस्त्रिपुरा-देव्याः, जीवन्मुक्ति-प्रवर्तकः ॥(६-८६)

"**अन्तर्मुख-समाराध्या, बहिर्मुख-सुदुर्लभा**"—ललिता-सहस्र-नामान्तर्गत इन दो नामों से भी पूर्वोक्त भाव की ही पुष्टि की गई है।

३. पूजा-सङ्केत

इस प्रकार '**मन्त्र**' महा-वाक्य के श्रवण और मनन का, '**श्री-चक्र**' अन्तर्मुखी-वृत्तिवाले मन का और '**आवरण-देवता**' अन्तरावलोकन-क्षम मन की आध्यात्मिक वृत्तियों का निरूपण करते हैं। अब **पूजा-शब्द निदिध्यासन, अनवरत ध्यान** और **सविकल्प समाधि** के लिए आया है अर्थात् **पूजा** का अर्थ **निदिध्यासन** और **सविकल्प समाधि** है। **योगिनी-हृदय** और **भावनोपनिषद्** इस भाव की पुष्टि करते हैं—

यत्र यत्र मनो याति, बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये!
तत्र तत्राक्ष-मार्गेण, चैतन्यं व्यज्यते प्रभो!॥

(योगिनी-हृदय, ८.४ टीका)

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयानामभेद-भावनं श्रीचक्र-पूजनम्।

(भावनोपनिषद्)

पूजा और **सपर्या** एक समूह-वाचक शब्द हैं, जो अनेक क्रियाओं, भावनाओं एवं उपचारों द्वारा सङ्कलित होकर विधि के अनुसार **ध्यान** और **आवाहन** से प्रारम्भ होकर **उद्वासन** (विसर्जन) में समाप्त हो जाती है। सामान्य वार्त्तालाप में

पूजा– शब्द किसी **प्रतिमा** अथवा **यन्त्र** के ऊपर, जिसमें किसी **देवता** का आवाहन किया गया है, उसके नाम में चतुर्थी विभक्ति लगाकर तथा अन्त में '**नमः**' जोड़कर (**शिवाय नमः**) गन्ध, पुष्पादि समर्पण करने के लिए प्रयोग किया जाता है, किन्तु '**पूजा**' का विशेष अर्थ वास्तविकता में '**जीव–ब्रह्मैक्यानुसन्धान**' है। '**नमः**' शब्द '**त्वं**' पद अथवा जीव के लिए, देवता का नाम '**तत्**' पद अथवा ब्रह्म के लिए और चतुर्थी विभक्ति दो की एकता के लिए अथवा '**असि**' पद के लिए आई है। अतः—

'**शिवाय नमः, नारायणाय नमः, कुमाराय नमः, आदित्याय नमः, गणपतये नमः, मात्रे नमः**' इत्यादि महा–मन्त्र यथार्थ में महा–वाक्य हैं और इन **महा–मन्त्र–रूप महा–वाक्यों** से ही पूजा की जाती है। **श्री शङ्कराचार्य** ने सारी पूजा का आभ्यन्तर महत्त्व स्व–रचित **परा–पूजा** नामक स्तोत्र में निम्न–लिखित प्रकार से दिया है—

पूर्णस्यावाहनं कुत्र, सर्वाधारस्य चासनम्?
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च, शुद्धस्याचमनं कुतः?
निर्मलस्य कुतः स्नानं, वस्त्रं विश्वोदरस्य च?
निरालम्बस्योपवीतं, पुष्पं निर्वासनस्य च?
निर्लेपस्य कुतो गन्धो, रम्यस्याभरणं कुतः?
नित्य–तृप्तस्य नैवेद्यं, ताम्बूलं च कुतो विभो?
प्रदक्षिणाद्यनन्तस्य, ह्याद्वयस्य कुतो नतिः?
वेद–वाक्यैरवेद्यस्य, कुतः स्तोत्रं विधीयते?
स्वयं–प्रकाश–रूपस्य, कुतो नीराजनं विभो?
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य, कथमुद्वासनं भवेत्?
एवमेव परा–पूजा, सर्वावस्थासु सर्वदा।
एक–बुद्ध्या तु देवेश! विधेया ब्रह्म–वित्तमैः॥

"अर्थात् **ब्रह्म** से अभिन्न सर्व–व्यापिनी चित्–शक्ति का '**आवाहन**' एक छोटे–से परिमित स्थान पर निवास करने के लिए किस प्रकार किया जा सकता है? जिस **महा–शक्ति** के आधार पर समस्त विश्व स्थित है, उसके विराजने के लिए कौन–सी वस्तु '**आसन**' के रूप में दी जा सकती है? जो स्वयं स्वच्छ है, उसके '**अर्घ्य**' और '**पाद्य**' की आवश्यकता क्या कभी हो सकती है? जो स्वयं शुद्ध है, उसकी शुद्धि क्या '**आचमन**' कर सकता है? जो

सर्वदैव स्वच्छ और निर्मल है, उसको 'स्नान' कराने से क्या लाभ? जिसके उदर में समस्त विश्व विलीन है, उसको परिधेय 'वस्त्र' समर्पण करना कहाँ तक समुचित है? अर्थात् जो समस्त जगत् को आच्छादित करता है, उसको 'वस्त्र' पहनाना कहाँ तक योग्य है? जिसका कोई आधार अथवा शरीर नहीं है, उसके लिए 'यज्ञोपवीत' का क्या प्रयोजन है? जो समस्त वासनाओं से रहित है, उसे 'पुष्प-वासना-गन्ध' क्या लुभा सकती है? अथवा जो स्वयं निर्लेप है, उसके लिए 'चन्दन' का विलेपन किस प्रयोजन का है? जो स्वयं रमणीयता की मूर्ति है, उसके लिए शोभा-धायक 'आभरणों' की आवश्यकता नहीं हो सकती। जो स्वयं नित्य-तृप्त है, उसके लिए 'नैवेद्य' और 'पान-सुपारी' व्यर्थ हैं। जो स्वयं अनन्त है, उसकी 'परिक्रमा' करने में किसकी सामर्थ्य है? जो वास्तव में अद्वय है अथवा एक है, उसके लिए कौन 'साष्टाङ्ग प्रणाम' कर सकता है? जिसके वर्णन करने में वेद भी निरन्तर असमर्थ हैं, उसकी 'स्तुति' करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। जो स्वयं प्रकाशमान है, उसका 'नीराजन' कर उसे प्रकाश दिखाना अनौचित्य है? जो विश्व के बाहर और भीतर सर्वत्र विद्यमान है, उसका 'विसर्जन' किस प्रकार किया जा सकता है? यह 'परा-पूजा' है, जो सर्वावस्था में सर्वदा एकाग्र मन से की जानी चाहिए और उसके करने में केवल 'ब्रह्म-ज्ञानी' ही समर्थ हो सकते हैं।

भावनोपनिषद् में भी इस परा-पूजा की व्याख्या षोडशोपचारों के साथ विस्तार से की गई है, जो निम्न-लिखित है—

१. अपरिच्छिन्नतया भाविताया ललितायाः स्वे महिम्न्ये प्रतिष्ठितं— 'आसनम्'।

२. वियदादि-स्थूल-प्रपञ्च-रूप-पाद-गतस्य नाम-रूपात्मक-मलस्य सच्चिदानन्दैक-रूपत्व-भावना-जलेन क्षालनं—'पाद्यम्'।

३. वियदादि-सूक्ष्म-प्रपञ्च-रूप-हस्त-गतस्य नाम-रूपात्मक-मलस्य सच्चिदानन्दैक-रूपत्व-भावना-जलेन क्षालनं—'अर्घ्यम्'।

४. भावना-रूपाणां अपामपि कबलीकार-रूपं—'आचमनम्'।

५. सत्त्व-चित्त्व-आनन्दत्वाद्यखिलावयवावच्छेदेन भावना जल-सम्पर्क-रूपं—'स्नानम्'।

६. तेष्वेवावयवेष प्रसक्ताया भावनात्मक-वृत्ति-विशेष्यतायाः वृत्ति-विषयत्व-भावनेन च—'वस्त्रम्'।

७. निर्विषयत्व–निरञ्जनत्व–अशोकत्व–अमृतत्वाद्यनेक– धर्म–रूपाणि— 'आभरणानि', धर्म्य–भेद–भावनेन।
८. स्व–शरीर–घटक–पार्थिव–भागानां जड़ताऽपनयेन चिन्मात्रतावशेष – रूपो—'गन्धः'।
९. आकाश–भागानां तथा भावनेन—'पुष्पम्'।
१०. वायव्य–भागानां तथा भावनया— 'धूपः'।
११. तेजस–भागानां तथा करणेन—'दीपः'।
१२. अमृत–भागांस्तथा विभाव्य—'निवेदनम्'।
१३. षोडशान्तेन्दु–मण्डलस्य तथा भावनेन— 'ताम्बूलम्'।
१४. परा–पश्यन्त्यादि–निखिल–शब्दानां नाद–द्वारा ब्रह्मण्युपसंहार–चिन्तनेन— 'स्तोत्रम्'।
१५. विषयेषु धावमानानां चित्त–वृत्तीनां विषय–जड़ता–निरासेन ब्रह्मणि विलापनेन— 'प्रदक्षिणम्'।
१६. तासां विषयेभ्यः परावर्तनेन ब्रह्मैक–प्रवणतया—प्रणामः।

इति षोडशोपचाराः।

जिसमें जीव अपने इन्द्रिय–विषयों के उपभोगों को पर–देवता के लिए समर्पण कर देता है और स्वयं उनसे पृथक् (अनासक्त) रहता है—इस प्रकार की पूजा 'महा–याग' के नाम से प्रसिद्ध है। यदि शब्द, स्पर्श आदि पञ्च–ज्ञानेन्द्रियों के विषयों व भोग उनके साथ आत्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं, तो आत्मा की सीमाएँ जीव को आनन्द का समुद्र बनाकर विनष्ट हो जाती हैं। इस विचार का प्रतिपादन संस्कृत के भिन्न–भिन्न ग्रन्थों द्वारा किया गया है—

'इन्द्रिय–प्रीणन–द्रव्यैर्विहित–स्वात्म–पूजनः।'
श्रोत्रादीनि तेषां प्रीणनानि द्रव्याणि विशिष्ट–शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धाः,
तैर्विहितं स्वात्म–देवतायाः पूजनं, येन तथा–विधः॥ तदुक्तं मुख्याम्नाय–रहस्य–विधौ—
इन्द्रिय–द्वार–संग्राह्यैर्गन्धाद्यैरात्म–देवता।
स्वभावेन समाराध्या, ज्ञातुः सोऽयं महा–मखः॥ इति॥.......

शिर–स्थित–गुरोः दहरस्थ–नाद–विद्यायाः सर्वावसायि–चित्–कला रूप–देव्यात्मनश्च अद्वैत–धान–सम–कालं सकलेन्द्रियैः विषयान् भुञ्जानः

तज्जन्यानन्द-धारा-मात्र-विषयक-निर्विकल्पक-ज्ञानैक-सारतया इतर-निखिल-विषय-प्रमोषेण कञ्चित् कालमवस्थानं परा-पूजेति ज्ञेयम्।

(योगिनी-हृदय, ८.८ टीका)

श्रोत्रादीन्द्रिय-विषय-शब्दाद्यनुभव-जनितेन महदानन्देन सम-रसी-करणं—परा-पूजा इत्यर्थः। (अमृतानन्दनाथ)

यही पूजा-सङ्केत है और जो इसको भली-भाँति समझता है, वह ब्रह्म और आत्मा की एकता की प्राप्ति से (ब्रह्मात्मैक्यानुभव द्वारा) स्वयं ब्रह्म बन जाता है॥

४. दीक्षा-तत्त्व अथवा दीक्षा-तत्त्व-विवेचना

श्री गौड़पादाचार्य 'श्रीविद्या-मन्त्र-रत्न-सूत्रों' का प्रारम्भ निम्न-लिखित प्रकार से करते हैं—

अथ शाक्त-मन्त्रागमाभि-जिज्ञासा।

अर्थात् इसके अनन्तर 'शाक्त-मन्त्रागम' की अभि-जिज्ञासा। हृदय से यह एक प्रश्न उठता है कि किसके अनन्तर (उपरान्त)? 'पूर्व-मीमांसा-सूत्र' भी 'अथ' शब्द से प्रारम्भ होते हैं। वहाँ पर 'अथ' की व्याख्या ''चार वेद और षट्-वेदाङ्गों के अध्ययन के अनन्तर''—इस प्रकार की गई है। 'उत्तर-मीमांसा' के सूत्रों का प्रारम्भ भी 'अथ' शब्द से ही होता है। वहाँ पर इसका अर्थ—''चार प्रारम्भिक योग्यताओं की प्राप्ति के उपरान्त''—इस प्रकार किया जाता है।

यदि 'अथ' शब्द की उपर्युक्त दो व्याख्याओं में से कोई भी एक व्याख्या स्वीकार कर ली जाए, तो इन 'मन्त्र-रत्न-सूत्रों' के प्रकाशन से भी कोई उपर्युक्त कार्य सिद्ध नहीं होता है। अतः इस प्रसङ्ग में 'अथ' शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से सूचित की गई है। 'अथ' शब्द उस मुमुक्षु पुरुष की मानसिक अवस्था का निरूपण करता है, जिसे यह अनुभव होता है कि योग्य गुरु द्वारा ब्रह्म-विद्या की दीक्षा ग्रहण करने पर भी वह आत्म-प्राप्ति में सफल नहीं हुआ है। यह स्पष्ट है कि उसका निदिध्यासन-क्रम पूर्ण नहीं हुआ और संशय तथा विपरीत भावना आदि के स्वरूप भीषण बाधाएँ विद्यमान हैं। यह केवल उन बाधाओं पर विजय पाता है, जो उस मुमुक्षु पुरुष को श्री-विद्या की ओर ले जाता है। इस प्रकार की क्रम-पूर्वक श्रीविद्या की उपासना का

उन्नति–शील आत्म–ज्ञानाभिलाषी **मुख्याधिकारी** है, जो **उपासना** उसके सन्देह और विपरीत भावनाओं को ही दूर न करेगी, अपितु उसको **आत्म–ज्ञान** भी निश्चय के साथ करा देगी। यह समस्त श्रुति और स्मृतियों की दृढ़ धारणा है।

यह पूर्व उल्लेख किया जा चुका है कि अत्यन्त प्रतिष्ठित **श्री–विद्या** सर्वदैव सुरक्षित एवं रहस्य–मय है तथा कर्ण–परम्परा (**कर्णात् कर्णोपदेशेन**) से ही अनवरत उपदिष्ट की जाती है अर्थात् **गुरु–मुख** द्वारा ही **शिष्य** को प्राप्त हो सकती है, पुस्तक इत्यादि उपायान्तर के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि पूर्वोक्त **जिज्ञासु** को अपनी **दीक्षा** के लिए **योग्य गुरु** की गवेषणा करनी चाहिए।

तत्र सर्वथा मति–मान् दीक्षते। (परशुराम कल्प–सूत्र)

इस प्रकार के विषयों में **योग्य गुरु** की अनुपेक्ष्य आवश्यकता तथा उसकी सेवा में उपस्थित होने की विधि **वेद भगवान्** ने स्वयं निर्दिष्ट की है—"**तद्–विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्–पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म–निष्ठम्**" अर्थात् सत्य–ज्ञान के लिए **अधिकारी** को **समित्–पाणि** होकर गुरु की सेवा में उपस्थित होना चाहिए। स्मृति, पुराण तथा अन्य शास्त्रों ने भी गौरव के साथ इसका समर्थन किया है। **शिष्य** को **गुरु** के निकट जाकर सादर साष्टाङ्ग प्रणाम–पूर्वक अपना उद्देश्य निवेदन करके अटल विश्वास के साथ उसकी आज्ञा पालन करने का दृढ़ सङ्कल्प सूचित करना चाहिए। **शिष्य** की निष्कपटता पर **गुरु** उसे स्वीकार कर उसकी **दीक्षा** का प्रबन्ध करेगा।

ललिता–त्रिशती–भाष्य में **शङ्कराचार्य** ने यथार्थ निरूपण किया है कि गुरु की **कृपा–पूर्ण दृष्टि** ही स्वयं **दीक्षा** का पूर्ण अङ्ग है तथा **शिष्य** के मार्ग में उपस्थित विघ्न–बाधाओं को दूर करने के लिए वह (**गुरु–कृपा–दृष्टि**) पर्याप्त है। तदनन्तर **मन्त्र–प्रदान** और उसका निरन्तर **ध्यान** (**जप**) करना बिना किसी रोक–टोक के **आत्म–ज्ञान** की प्राप्ति के मार्ग पर लगाता है।

सुख - साधन - गुरु - कृपापाङ्गावलोकन - रूप - दीक्षा - वशेन प्रतिबन्धक–दुरितापगमे पर–देवता–रूप–ह्रीङ्कारः, चिर–काल–नैरन्तर्य–भावना–प्रकर्षेण तस्मिन्नभिमुखे सति तल्लक्ष्यार्थ–रूप–परमानन्द–चित्–कला स्वयमेवाभिव्यक्ता सती आनन्दानुभावामृतेन सुखयति।

गुरु द्वारा इस प्रकार का **उपदेश** ग्रहण करने को **'दीक्षा'** कहते हैं। यह **'दीक्षा'** मुक्ति-रूपी भवन (महल) पर चढ़ने के लिए सबसे पहली सीढ़ी है— **मुक्ति-सौधस्य सोपानं, प्रथमं दीक्षणं भवेत्।**

व्याकरण के अनुसार **'दीक्षा'**-शब्द **'दा'**-दाने और **'क्षी'**-क्षये—इन दो धातुओं से बना है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है— **जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है और बन्धन का क्षय होता है। 'दीक्षा'**-शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार है—

दीयते शिव-सायुज्यं, क्षीयते पाश-बन्धनम्।
अतो दीक्षेति कथितं, बुधैः सच्छास्त्र-वेदिभिः ॥

५. त्रैपुर सिद्धान्त

शिष्य के स्वीकार करने पर गुरु को उसे सबसे पहले त्रिपुरा-सिद्धान्त अथवा **त्रिपुरा-विज्ञान** (दर्शन) यद्वा **तीन पुरों** (नगरों) व **शरीर** का अस्तित्व समझाना चाहिए। **'परशुराम कल्प-सूत्र'** इस क्रम का प्रारम्भ निम्न-लिखित प्रकार से करता है— **'तत्रायं सिद्धान्तः'**

'त्रिपुरा-सिद्धान्त' वास्तव में **शारीरक मीमांसा** अथवा **व्यक्तिगत आत्मा** या **शरीर-स्थित आत्मा** का विवेचन है, **स्थूल, सूक्ष्म** और **कारण-देह** में साक्षी के समान विद्यमान रहनेवाली **संवित् त्रिपुरा** ही है अर्थात् वह **तीनों** देहों में निवास करती है तथा **शारीरक मीमांसा** के **'शारीरक'**-शब्द का अर्थ भी यही है। जो सर्वदा विद्यमान रहता है, वह केवल **'एक'** है और उसका वर्णन **ब्रह्म, पर-शिव, आत्मा, पर-वासुदेव, देवी** अथवा **प्रकाश** के नाम से बहुत प्रकार किया गया है। वह **सृष्टि के पूर्व** भी विद्यमान था। **जगत् की सृष्टि से पूर्व उसमें निमग्न था।** जिस अवस्था में यह **विश्व** उसमें विलीन रहता है, वह **प्रलय** कहलाती है। इस अवस्था के विषय में केवल शास्त्रों (वेदों) से ही जानकारी हो सकती है, किसी प्रबल ज्ञान द्वारा नहीं। जिस प्रकार **सुषुप्ति-अवस्था** में व्यक्ति-गत **आत्मा** स्वयं **प्रज्ञान** है और **बाह्य** जगत् का किञ्चित् मात्र भी अनुभव नहीं करता है, उसी प्रकार **प्रलय** में **ब्रह्म** भी अपनी यथार्थ अथवा पूर्णावस्था में विद्यमान रहता है। व्यक्तिगत **आत्मा** अपने कर्म और **पञ्च-तत्त्वों** के साथ **ब्रह्म** में इस प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार **वट-वृक्ष** अपने छोटे-से बीज में छिपा रहता है। जब **कर्मों के**

फल-भोग करने का समय आता है, तब **परमेश्वर** को **सृष्टि-निर्माण** करने की **इच्छा** होती है। उपनिषदों में यह इच्छा (ईक्षण) **काम, तप** और **विचिकीर्षा** के नामों से पुकारी जाती है। यह '**शान्ता शक्ति**' के अभिधान से भी विदित है, जो केवल **साम्यावस्था में इच्छा, ज्ञान** और **क्रिया-शक्तियों** का समुदाय है। इन **तीन शक्तियों** का संयुक्त कार्य **विश्व** है, जो **शिव-तत्त्व** से प्रारम्भ होकर **पृथ्वी-तत्त्व** में समाप्त होनेवाले **छत्तीस** (३६) **तत्त्वों** से बना हुआ है।

६. षट्-त्रिंशत् तत्त्व (३६ तत्त्व)

सूत-संहिता कहती है कि प्रलय-काल-पर्यन्त जो भी **भोग्य पदार्थ** अथवा **भोग के साधन** अथवा **भोग के निमित्त** (कारण) यद्वा **भोक्ता** (भोग करनेवाला) विद्यमान रहते हैं—ये सब तत्त्व कहलाते हैं—

आप्रलयं यत्तिष्ठति, सर्वेषां भोग-दायि भूतानाम्।
तत्-तत्त्वमिति प्रोक्तं, न शरीर-घटादि तत्त्वमतः॥

कुछ शास्त्रों का कथन है कि **शिव-तत्त्व** से लेकर **पृथ्वी-तत्त्व**-पर्यन्त कुल **३६ तत्त्व** हैं, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है। कुछ शास्त्र कहते हैं कि तत्त्व-संख्या कुल २४ है। चाहे उनकी संख्या ३६ हो अथवा २४, ये **आत्म-तत्त्व, विद्या-तत्त्व** और **शिव-तत्त्व** के नाम से तीन भागों में बाँटे जाते हैं। **शैव** और **शाक्त**-मत **सृष्टि-क्रम में छत्तीस तत्त्वों** की व्यवस्था (प्रयोग) के साथ उनकी गणना और वर्गीकरण निम्न-लिखित क्रमानुसार करते हैं—

शिव-तत्त्व (५) : १. शिव, २. शक्ति, ३. सदा-शिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्ध-विद्या;

विद्या-तत्त्व (७) : ६. पुरुष, ७. नियति, ८. काल, ९. राग, १०. अविद्या, ११. कला, १२. माया;

आत्म-तत्त्व (२४) : १३. प्रकृति (साम्यावस्था में सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों का समूह);

१४ से १६—अहङ्कार, बुद्धि और मन (रज, सत्त्व और तमोगुण की अधिकता के साथ यथा-क्रम तीन मानसिक वृत्तियाँ)।

१७ से २१ पञ्च ज्ञानेन्द्रिय। २२ से २६ पञ्च कर्मेन्द्रिय। २७ से ३१ पञ्च तन्मात्रा। ३२ से ३६ पृथिव्यादि पञ्च महा-भूत।

इन तत्त्वों में से **आत्म-तत्त्व** स्थूल और जड़ हैं। अतएव वे **अशुद्ध तत्त्व** माने गए हैं। **विद्या-तत्त्व** यद्यपि जड़ हैं, किन्तु पार-दर्शी (Transparent) हैं और **प्रकाश का प्रतिबिम्ब** डालने में समर्थ हैं। अतएव वे **शुद्धाशुद्ध** तत्त्व कहे गए हैं। **शिव-तत्त्व** केवल **प्रकाश** की श्रेणियाँ हैं। अतएव वे **शुद्ध तत्त्व** माने जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि **आत्म-तत्त्व** जड़ हैं और वे **त्रिविध शरीर** (भोगायतन—भोग के घर) को बनाते हैं।

सात विद्या-तत्त्वों में से **आत्म-तत्त्व** (जीव) उपरि-वर्णित त्रिविध शरीर में निविष्ट **पुरुष** है, जो अपने आपको **कर्ता** और **भोक्ता** प्रकट करता है। **कार्य** और **भोग** असत्य हैं, जो **माया-तत्त्व** द्वारा उसके ऊपर अध्यारोपित हैं। यह **माया-तत्त्व** ही उसके (**जीव के**) भीतर यह भाव पैदा कर देता है कि '**जगत्**', '**जीव**' और '**पर**' भिन्न-भिन्न हैं। **कला, अविद्या, राग, काल** और **नियति**—ये **पाँच** मध्य-वर्ती तत्त्व **पुरुष** की **सर्व-कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्य-तृप्ति, नित्यत्व** और **स्वातन्त्र्य**—इन **पाँच स्वाभाविक विशेषताओं** को आच्छादित कर देते हैं और उसे अनुभव कराते हैं कि उसकी **शक्ति** और **ज्ञान** अत्यल्प तथा **तृप्ति** परिमित, **स्थिति** अल्प-कालीन और **स्वतन्त्रता** सीमित (परिमित) है। **पाँच शिव-तत्त्वों** में से **शुद्ध-विद्या-तत्त्व** जगत्, जीव और 'पर' के भेद-भाव को दूर करता है। **ईश्वर-तत्त्व** नाम और रूप की विभिन्नताओं के साथ विश्व में **इदन्ता-रूप ज्ञान** का अवगम (उपलब्धि) है। यह '**इदन्ता**' एक और सर्व-व्यापक है। इसके कारण ही **नाम** और **रूप** मिथ्या-से प्रतीत होते हैं।

इस जगत् की धारणा आश्रयीभूत सच्चिदानन्द की प्रकृति '**अहन्ता**' का उत्पादक **सदा-शिव तत्त्व** है। अन्य शब्दों में '**यह सम्पूर्ण विश्व मेरा आविष्कार है**'—इस प्रकार के अनुभव का नाम **सदा-शिव तत्त्व** है। **पर-शिव** की संसार-सिसृक्षा (जगत् को पैदा करने की इच्छा) **शक्ति-तत्त्व** कहलाती है। अध्यारोपित की पैदा करने की इच्छा के साथ **शिव-तत्त्व** स्वयं **पर-शिव** हैं।

टिप्पणी : वास्तव में **जीव** और **पर-शिव** अनन्य रूप हैं, किन्तु विरूपता-कारक **माया** के प्रभाव से **पर-शिव** की पाँच विशेषताएँ जो **जीव** में स्वाभाविक हैं अर्थात् **स्वातन्त्र्य, नित्यत्व, सर्व-कर्तृत्व, नित्य-तृप्ति** और **सर्वज्ञत्व** दूषित एवं संकुचित होकर क्रमशः **नियति, कला, काल, राग** और **अविद्या** में

परिवर्तित हो जाते हैं। ये तत्त्व कञ्चुक (आवरण) नाम से प्रसिद्ध हैं। माया के कार्य होने से ये कञ्चुक मिथ्या हैं। केवल इनके कारण ही जीव सांसारिक दुःखों को अथवा जीवन–मरण के चक्र को भोगता है। जब जीव शुद्ध विद्या–तत्त्व के लाभ–कारी प्रभाव से उनको (कञ्चुकों को) त्याग देता है, तब वह स्वयं पर–शिव होकर प्राक्तन प्रभाव से प्रकाशमान होता है—

शरीर–कञ्चुकितः शिवो जीवो, निष्कञ्चुकः पर–शिवः।

७. जीव और ईश्वर की प्रकृति (स्वभाव)

'तत्त्व–नामावली' में पुरुष (जीव) और शिव का पृथक् निर्देश किया गया है और इन दोनों में भेद बताया गया है। यहाँ पर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या जीव और ईश्वर में निर्दिष्ट भेद अद्वैत के निर्णय में विरोध पैदा नहीं करता, अपितु अवश्य करता है। इस सन्देह का निराकरण इस प्रकार किया गया है कि यदि इन दोनों में वास्तविक भेद हो, तब तो सन्देह की उत्पत्ति ठीक ही है, किन्तु यह भेद तात्त्विक नहीं है। पूर्णतया स्वतन्त्र तथा निस्सीम सच्चिदानन्द–स्वरूप शिव की पूर्णता और स्वतन्त्रता उसकी (शिव की) उस आश्चर्य–जनक माया के आवरण से आच्छादित है, जो स्पष्टतया सम्पूर्ण असम्भव वस्तुओं को प्राप्त करने में समर्थ है।

इसी भाव का वर्णन प्रकारान्तर से भी किया गया है। जिस अवस्था में पर–शिव की स्वतन्त्रता को माया आच्छादित कर देती है, उस अवस्था का नाम 'आणव मल' कहलाता है। माया 'पर–शिव' की स्वतन्त्रता को किस विधि से आच्छादित करती है, उसकी व्याख्या अधो–लिखित है—

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से उत्पन्न मेघों द्वारा सूर्य आच्छादित होता है, उसी प्रकार पर–शिव से उत्पन्न माया के सामर्थ्य से वह (पर–शिव) प्रच्छन्न रहता है। जिस भाँति मेघाच्छन्न होने पर भी भगवान् भास्कर की कान्ति का कोई भी भाग न्यून नहीं होता, उसी भाँति वास्तव में पर–शिव की स्वतन्त्रता का किञ्चित् मात्र भी क्षय नहीं होता। 'मेघ' और 'माया' केवल अतात्त्विक उपाधियाँ हैं। अतएव सत्य नहीं हैं। माया की शक्ति से पर–शिव की विश्व–व्यापिता आच्छादित हो जाती है और वह परिमित–जैसा प्रतीत होता है। उसकी इस अवस्था का नाम 'मायिक' मल है। इसके अनन्तर वह द्वैतता के भाव का अनुभव करता है। यह द्वैतानुभव रुचि और अरुचि पैदा करता है।

इनसे उद्योगिता और निरुद्योगिता होती है, जो उसको शुभाशुभ कर्मों का कर्ता बना देती है। पर-शिव की इस अवस्था का नाम **'कार्मिक' मल** है। आणव, मायिक और कार्मिक —ये तीन 'मल' तीन शरीर होते हैं। इस प्रकार पर-शिव मूर्तिमान् होकर जीव बनता है।

जीव का चरम लक्ष्य अपनी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना है, जो **"स्व-विमर्शः पुरुषार्थः"** इस वचन के अनुसार स्वयं पर-शिव है। मैं वही हूँ—इस प्रकार के ज्ञान का नाम ही **'प्रत्यभिज्ञा'**-शब्द से कहा जाता है। अपनी स्वाभाविक प्रकृति की याद आना, जो उसकी थी और जिसे वह कुछ समय के लिए भूल गया था, **'प्रत्यभिज्ञा'** कहलाती है। साधारणतया इसकी व्याख्या निम्न-लिखित दृष्टान्त द्वारा की गई है—

एक पुरुष अपने कण्ठ में सर्वदा सोने का कण्ठा धारण किए हुए है, किन्तु उसे किसी प्रकार यह धारणा हो जाती है कि उसका वह कण्ठा उससे खो गया है। वह दुःखित होकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर सर्वत्र ढूँढ़ता है, किन्तु उसे पता नहीं लग पाता। अन्त में उसका एक मित्र इस दुःखद समाचार को पाकर उसको सान्त्वना देने के लिए उसके पास आता है। उसके आभूषण को उसके कण्ठ में विद्यमान देखकर वह उसे बताता है कि उसका कण्ठाभूषण उसके कण्ठ को अलंकृत कर रहा है, जिसे वह खोया हुआ समझकर ढूँढ़ता फिरता है। मित्र उसके हाथ को उसके आभूषण पर रखकर दर्शाता है। पुरुष अपने खोए हुए आभूषण को पाकर अत्यन्त प्रसन्न होता है और मानता है कि उसने अपने पूर्वोक्त अलङ्कार को पुनः पा लिया है। इस प्रकार की **प्रत्यभिज्ञा**, जो इस सादृश्य से प्राप्त होगी, उसके किसी प्रयत्न का परिणाम नहीं है, प्रत्युत वह परमेश्वर की कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकती। स्मृतियाँ भी ऐसी ही घोषणा करती हैं—

ईश्वरानुग्रहादेव, पुंसामद्वैत-वासना।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते।।

अर्थात ईश्वर के अनुग्रह से ही पुरुषों में अद्वैत-वासना उत्पन्न होती है— जो सर्वतोभाव से मेरा आश्रय लेते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं।

इस प्रकार का अनुग्रह केवल ईश्वर की उपासना से ही हो सकता है, जो जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परोक्ष अथवा विप्रकृष्ट साधन (परम्परा, साधन) बन जाता है।

८. उपासना का स्वरूप

ईश्वर–प्रणिधान अथवा ईश्वर में प्रगाढ़ ध्यान लगाना '**उपासना**' कहलाती है। '**ईश्वर**' का शाब्दिक वर्णन करनेवाले **प्रणव** और **गायत्री** के समान महा–मन्त्रों का जप तथा उनके अर्थ पर अनवरत विचार करना, समस्त विश्व को ईश्वर का आविष्कार समझना तथा पञ्च–ज्ञानेन्द्रियों के विषयानुभव को ईश्वर की पूजा मानना—शास्त्रों ने **ईश्वर–प्रणिधान** बताया है। ईश्वर–प्रणिधान में मन्त्र–जप तथा उसके अर्थ पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। मन्त्र **वर्ण–माला** के अक्षरों के समूह हैं। मन्त्र अथवा ध्वनियों के निर्माता **वर्ण** नित्य हैं। अतः वे **अक्षय** (अविनश्वर) कहलाते हैं। मन्त्रों का आश्चर्य–जनक सामरस्य कल्पनातीत है। जिस प्रकार **माया** अपूर्व और असाध्य कार्यों के साधन करने में समर्थ है, उसी प्रकार **मन्त्र** भी स्वयं **माया** के उन्मूलन के लिए अनन्त शक्ति रखते हैं—

वर्णात्मका नित्याः शब्दाः। मन्त्राणामचिन्त्य–शक्तिता।

और वे पुरुष कौन हैं, जो '**मन्त्रों की आश्चर्य–जनक शक्ति**' को अपनी शक्ति के समान प्राप्त कर सकते हैं? '**सम्प्रदाय–विश्वासाभ्यां सर्व–सिद्धिः**'। ऐसे पुरुष वे हैं, जो **गुरु–परम्परा–निर्दिष्ट पद्धति** तथा **सम्प्रदाय–क्रम** का अनुसरण करते हैं और मन्त्रों की निरतिशय सम्भावना को मानते हुए गुरु के उपदेश तथा शास्त्रों पर दृढ़ विश्वास रखकर उपासना करते हैं। केवल वे ही जीवन के चरम लक्ष्य **आत्म–ज्ञान** की प्राप्ति में सफल होते हैं। शास्त्र कहते हैं कि प्रायः शिष्य की मुख्य परीक्षा गुरु के वचनों में दृढ़, अविचल विश्वास करने पर तथा उनकी (गुरु–वचनों की) प्रमादाक्षमता पर अवलम्बित है। **अधिकारी शिष्य** को इस प्रकार के ज्ञान को जो केवल शास्त्रैकगम्य है, तर्क द्वारा दोष न लगाना चाहिए। अर्थात् जो बात केवल शास्त्र–ज्ञान द्वारा जानी जा सके, उसमें अपनी वाक्–शक्ति द्वारा शुष्क–तर्क न बढ़ाना चाहिए—'**विश्वास–भूयिष्ठं प्रामाण्यम्। शास्त्रैक–गम्या ये ह्यर्था, न तांस्तर्केण दूषयेत्**'।

मन्त्र के प्रभाव पर दृढ़ विश्वास रखनेवाले और गुरु–परम्परागत–पद्धति का दृढ़ता के साथ अनुसरण करनेवाले शिष्य की उपासना में सबसे अधिक सहायता पहुँचानेवाली वस्तु कौन–सी है? इसके उत्तर में यह कह देना नितान्त आवश्यक है कि अपने (जीव का) **आत्मा, मन** और **प्राणों** के साथ अपने **गुरु, मन्त्र** और **देवता** को अभिन्न समझकर उनकी '**एकता**' का निरन्तर ध्यान करना सबसे अधिक सहायक है—

गुरु-मन्त्र-देवतात्म-मनः-पवनानामैक्य-निष्फालनादन्तरात्म-वित्तिः।

इस प्रकार की एकता किस प्रकार अनुष्ठित हो सकती है, उसकी व्याख्या निम्न-लिखित प्रकार की है—

केवल उन पदार्थों की 'एकता' के विषय में कुछ कहा जा सकता है, जो बाहरी दृष्टि से विभिन्न हों क्योंकि यदि उनकी विभिन्नता वास्तविक है, तो उनकी 'एकता' स्वीकृत न की जाएगी। उस पर भी नाना-विधता केवल सीमित वस्तुओं में ही पाई जाती है, किन्तु ब्रह्म तो अप्रतिरूप और असीम है।

समय, स्थान और पदार्थता के भेद से सीमा-निरूपण (परिच्छेद) तीन प्रकार का है—(१) जो पदार्थ एक ही समय अस्तित्व में आकर कुछ समय के लिए विद्यमान रहते हैं और पुनः सृष्टि में विलीन हो जाते हैं, वह समय का परिच्छेद (सीमा-निरूपण) कहा जाता है। (२) जो पदार्थ भागों द्वारा बनते हैं, एक स्थान में विद्यमान रहते और दूसरे में नहीं रहते, वह स्थानीय-परिच्छेद कहा जाता है। (३) पदार्थों का पारस्परिक अभाव—जैसे 'वस्त्र घट नहीं है'—इस वाक्य में वस्त्र और घट का पारस्परिक अभाव है, अर्थात् वस्त्र अन्य वस्तु है और घट अन्य वस्तु—पदार्थता का परिच्छेद कहलाता है। यह तीसरा सीमा-निरूपण (परिच्छेद) स्वयं तीन प्रकार का है—इसका प्रथम प्रकार यह है कि आपस में सम्बन्ध रखनेवाले एक जाति के पदार्थ. यथा—एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है। द्वितीय—भिन्न-जातीय पदार्थ—जैसे पशु और मनुष्य एक दूसरे से भिन्न हैं। तृतीय—एक अङ्गी के अङ्गों को निर्माण करनेवाले पदार्थ—यथा पुरुष के हाथ उसके पैर से भिन्न हैं। ये सीमा-निरूपण और विभिन्नताएँ केवल मायिक हैं अर्थात् अविद्या द्वारा उत्पन्न हुए हैं तथा असीम स्वयं-प्रकाश ब्रह्म के ऊपर मन और प्राणों के प्रकम्पन से अध्यारोपित हैं, यह शास्त्रों का अखण्डनीय सिद्धान्त है।

९. समय और स्थान की अलीकता

पुरुष की इच्छा से प्राणों में स्पन्दन होता है। शब्द-ब्रह्म शरीर के 'परा' नामक प्रदेश में बिना किसी क्रिया के निवास करता है। प्राणों में स्पन्दन-स्वरूप 'गति' के आ जाने से समय का विचार प्रारम्भ हो जाता है। समय के विचार के साथ ही मन की उत्पत्ति हो जाती है। इसका अनुभव नाभि के निकट होता है। प्राणों के स्पन्दन और मन के सङ्कल्प से समय

और **स्थान** की कल्पना होती है। जब केवल **मन** प्राणों के साथ कार्य करता रहता है, तभी हम **स्थान**, **समय** और **पदार्थ की सीमा-निरूपण** का अनुभव कर सकते हैं। जब **मन** और **प्राण** परा-प्रदेश में स्थिर हो जाते हैं, तब **मन की** वृत्तियों के नियन्त्रण करने से तथा **प्राणायाम** (कुम्भक) से **स्थान**, **समय** और **पदार्थ** (उद्देश्य) का **मिथ्या सीमा-निरूपण** विनष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था हो जाने पर **गुरु**, **मन्त्र**, **देवता** और **उपासक**—इन सबकी **एकता का ज्ञान** प्राप्त हो जाएगा और **सीमा-निरूपण** का **मिथ्या ज्ञान** विलीन हो जाएगा।

१०. पूजोपासना

इस प्रकार **मन्त्रोपासना** समाप्त हो चुकी है। **अब उपासना** के **पूजा-भाग** पर विचार किया जाएगा—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च देहे व्यवस्थितम् तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्च-मकाराः। तैरर्चनं गुप्त्या। प्राकट्यान्निरयः।

ब्रह्म का रूप '**आनन्द**' है और वह '**आनन्द**' शरीर में स्थित है। उस '**आनन्द**' के व्यञ्जक (प्रकट करनेवाले) **पञ्चमकार** हैं। उनके द्वारा अर्चन गुप्त ढङ्ग से होता है। प्रकट रूप से करने से पाप लगता है। **पर-शिव** का स्वभाव **विज्ञान-मय** और **आनन्द-मय** है— "**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**"। जब ब्रह्म '**माया**' से आच्छादित होता है और उसका '**आनन्द**' शोकावृत्त हो जाता है, तब उसका '**ज्ञान**' प्रकट नहीं रहता। जब वह **ब्रह्म स्थूल**, **सूक्ष्म और कारण-देहों से**—जो पिछले पृष्ठों के वर्णन के अनुसार यथा-क्रम **आणविक**, **मायिक** और **कार्मिक मल** हैं—सीमित प्रतीत होता है, तब उसके आवश्यक चिह्न (लक्षण) अर्थात् **ज्ञान** और **आनन्द** नहीं दिखाई देते। उस समय पर **पञ्च-मकार**—पूजा के पाँच साधन, जिनके नाम '**म**'-कार से प्रारम्भ होते हैं—**ब्रह्म** के वास्तविक गुणों के **ज्ञान** और **आनन्द** के अभिव्यञ्जक होते हैं। '**म**'-बीज **जीव** अथवा **पुरुष** का व्यञ्जक है। यह संसार, जिसका अनुभव **पाँच ज्ञानेन्द्रियों** के **शब्द**, **स्पर्शादि** विषयों से होता है, **जीव** के लिए विषयोपभोगों को बनाता है। ये **विषयोपभोग** पूजा के साधन **पञ्च-मकारों** से निरूपित **सूक्ष्म तत्त्वों** से बने हुए हैं। यही **पञ्च-मकारों** का गूढ़ार्थ है।

जिन **ज्ञानेन्द्रियों** द्वारा अनेक अनुभवों की प्राप्ति के अनन्तर जब **मन** पूर्ण प्रसन्नता की अवस्था में बिना किसी बाह्य उद्योगिता के विश्राम करता है, तब **पर-शिव** के प्रकाशन के लिए अनुकूल समय होता है। यही **परा-पूजा** अथवा यथार्थ पूजा है—

श्रोत्रादीन्द्रिय-विषय-शब्दाद्यनुभव-जनितेन महदानन्देन सम-रसी-करणं परा-पूजेत्यर्थः। **(अमृतानन्दनाथ)**

पर-शिव के आनन्द के प्रकाशन के लिए **सम-रस वृत्ति** मुख्य कारण है। इस **सम-रस-वृत्ति** में **ज्ञातृ, ज्ञेय** और **ज्ञान** के द्वारा उत्पन्न किसी प्रकार का भेद-भाव किञ्चित् मात्र भी न होना चाहिए अर्थात् जब **सम-रस-वृत्ति** होती है, तो **ज्ञाता, ज्ञेय** और **ज्ञान**—इन तीनों में भेद-भाव नहीं रह जाता है। यह **समान-वृत्तिता** (सम-भाव), जो **नाम** और **रूप** के कारण भेद-भाव को पैदा करनेवाले विचारों के निराकरण करने से भेद-भावना-रहित **अशेषता** (समस्तता) के विचार द्वारा उत्पन्न होती है, वास्तविक **अर्चना** अथवा **पूजा** है। यह **अर्चना** रहस्य अर्थात् गुप्त रखने को कही गई है। मनुष्य-शरीर में अत्यन्त गुप्त रीति से स्थित **अन्तरात्मा** के ऊपर **अध्यास**-स्वरूप **इन्द्रिय-विषयों** के अवलोकन द्वारा प्राप्त अशेषता का भाव तथा शरीर में विलीन एक-रूप **अद्वैतानन्द** का अभिज्ञान (निर्णय) **गोप्य, रहस्य** (गुप्त आम्नाय)—इन विशेषणों से शास्त्रों में प्रसिद्ध है। जिस अवस्था में **इन्द्रियों के सुख** अपनी परिमित अवस्थाओं (दशाओं) से पवित्र न होने के कारण **आत्मानन्द** के साथ अपनी **सार-भूत एकता** में अनिश्चित (अज्ञात) होकर अपनी बाह्य विभिन्नताओं (भेदों) में ही रहते हैं, वह **प्राकट्य-भाव** के नाम से कही जाती है। **भेद-दृष्टि** द्वारा उत्पन्न इस प्रकार के **प्राकट्य-भाव** से **उपासक** नर्क को प्राप्त होता है अर्थात् ज़ीवन-मरण-जन्य क्लेश-परम्परा को भोगता है। **"गुप्तो मुक्तः, प्रकटो भ्रष्टः"**—यह उद्धरण घोषणा करते हैं तथा इस भाव की दृढ़ता करते हैं कि **जो उपासक अपनी उपासना को गुप्त रखता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।** इसके विरुद्ध **जो अपनी उपासना का प्रदर्शन करता है या कराता है, वह नष्ट होता है।**

११. उपासक के क़र्तव्य

अब तक **उपासना** के विषय में विचार किया गया है। इस समय यह बताया जाएगा कि **उपासक के कर्तव्य** क्या-क्या हैं।

१. उपासक को **आत्मा की शक्ति** में दृढ़ **विश्वास** रखकर चिर-काल-पर्यन्त अनवरत **समाधि** लगाकर **अभ्यास** करना चाहिए—

भावनादार्ढ्यादाज्ञा-सिद्धिः।

यह घोषित किया जा चुका है कि उक्त प्रकार की अविचल (स्थिर) **समाधि** से उपासक '**निग्रह**' और '**अनुग्रह**' को प्राप्त करता है। अभ्यास के निराकरण को **निग्रह** और जीवन–मुक्त आत्मा की दृष्टि को **अनुग्रह** कहते हैं। यद्यपि अत्यन्त विभिन्नता से युक्त संसार के रूप को (विभिन्नता–युक्त संसार को) यह **जीवन–मुक्त आत्मा** विचारणीय (ज्ञेय) है, तथापि यह (आत्मा) संसार के अधिष्ठान को देखने में समर्थ है।

२. हम पहले दर्शा चुके हैं कि **पञ्च–दशाक्षरी मन्त्र** वास्तव में '**महा–वाक्य**' है। अतएव **उपासक** को इसके **अर्थ** पर ध्यान देकर इस **मन्त्र** का अनवरत **जप** करना चाहिए—

सदा विद्याऽनुसंहतिः।

३. **उपासक** को सर्वदा यह **ध्यान** करना चाहिए कि **वह शिव है** अर्थात् अपने मन में निरन्तर **शिव और अपनी एकता** का विचार करना चाहिए कि **हम दोनों एक हैं**—

सततं शिवता–समावेशः।

४. **उपासक** को **अध्यात्म–विद्या** के उपदेश करनेवाले **गुरु** तथा **जीव** और **ब्रह्म** की **एकता** का प्रतिपादन करनेवाले **अध्यात्म–शास्त्र** के प्रतिकूल दर्शन–शास्त्रों से बचकर अपने मार्ग का निर्णय करना चाहिए—

अगणनं कस्यापि।

५. समस्त **द्वैतता** अथवा भेद–भावनाओं का निराकरण ही **उपासक** के **मोक्ष** का साधन है। उसे किसी **दर्शन–शास्त्र** अथवा **पद्धति** (क्रम) की **निन्दा** व अवज्ञा न करनी चाहिए। **उपासक** को यह तथ्य विदित होना नितान्त आवश्यक है कि **आत्मा** की दृष्टि में उनमें (दर्शनों) से कोई भी निन्द्य नहीं है। यतः **पर–शिव**, जो स्वयं **आत्मा** है, उनमें से प्रत्येक में अपनी **अधिष्ठान–सत्ता** के समान व्यापक है—

सर्व–दर्शनानिन्दा।

६. केवल **विवेक**, **विचार–हीनता** इत्यादि गुणों से सम्पन्न तथा जिन्होंने **वेदान्त–विषय** का यथा–क्रम अध्ययन किया है, ऐसे **अधिकारी शिष्यों** के अतिरिक्त **पञ्च–मकारों** से निरूपित इन्द्रिय–विषयानन्द के भीतर '**एकता**' के विषय में यह '**परम रहस्य**' किसी को भी प्रकाशित न करना चाहिए—

सच्छिष्ये रहस्य–कथनम्।

७. परिणाम में किसी प्रकार के **पुरस्कार** और **निरादर** की आशा त्याग कर **उपासक** को अपना **कर्म** करना चाहिए—

फलं त्यक्त्वा कर्म-करणम्।

८. **उपासक** को अपने **नित्य-कृत्य** और आवश्यक कर्तव्यों में से किसी **कर्म** का त्याग न करना चाहिए अर्थात् उसे जीवन में **कक्षा-विशेष** और **क्रम** के लिए आदिष्ट कृत्यों को प्रत्येक प्रकार से निभाना चाहिए—

अनित्य-कर्म-लोपः।

९. काम-क्रोधादि षड्-इन्द्रिय-विषयों के दूर करने से सांसारिक वस्तुओं में **अनासक्त** होकर उक्त **कर्मानुष्ठान** में तत्पर **उपासक** को **गुरु** के **निकट** जाना चाहिए, जो प्रत्येक **शास्त्र** में निपुण और **आत्म-ज्ञान** में अद्वितीय हैं। ऐसे **गुरु** को **पर-शिव** मानकर उसकी पूजा करनी चाहिए। **उपासक के** कर्तव्यों में से यह परमावश्यक कर्तव्य है।

१०. **उपासक** को **उपासना** के निम्न-लिखित **विशिष्टार्थ** पर **सर्वदा** ध्यान देना (विचार करना) चाहिए—

सर्वं वेद्यं हव्यम्। इन्द्रियाणि स्रुवः। शक्तयो ज्वालाः। स्वात्मा शिवः पावकः। स्वयमेव होता।

अर्थात् कोई भी वस्तुएँ हों, जिनका **मन** के द्वारा **ज्ञान** हो सकता है, वे **सब अग्नि** में **आहुति** देने के लिए **हवन-द्रव्य** (हवन-सामग्री) हैं। **चक्षु, श्रोत्रादि** पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय **अग्नि** में **आहुति** प्रदान के लिए **स्रुवा** हैं। **इच्छा, ज्ञान और क्रिया, शक्ति, चित्** और **आनन्द**—ये सब **अग्नि** की **ज्वालाएँ** हैं। **पर-शिव** की **प्रकाश-शक्ति** से अभिन्न **विमर्श-शक्ति** की **मूर्ति** उपासक **की आत्मा** यज्ञ की **अग्नि** है। **जीव** अथवा सोपाधिक चित् **याज्ञिक** होता है। **इस** प्रकार के **ध्यान** का परिणाम निम्न-लिखित शब्दों में दिया गया है—

निर्विषय-चिद्-विमृष्टिः फलम्। आत्म-लाभान्न परं विद्यते।

श्रीविद्योपासना का सबसे बड़ा लाभ **आत्मा की प्रत्यक्ष प्राप्ति** है, **जो** आत्मा निरुपाधिक चैतन्य है। इससे अधिक-तर लाभ कहीं भी नहीं दर्शाया गया है— **सैषा शास्त्र-शैली।**

त्रिपुरा-सिद्धान्त का **परमार्थ** इस प्रकार है। **गुरु** को इसे अपने **शिष्य के** लिए दीक्षा के प्रारम्भ में स्पष्टतया बतलाना चाहिए। तदनन्तर **गुरु** को अपनी रीति से **शिष्य** को **श्रीविद्या की दीक्षा** प्रदान करनी चाहिए।

❀ ❀ ❀

ॐ

।। श्रीपरा-भट्टारिकायै नमः ।।

श्रीविद्या-सपर्या-वासना

श्रीविद्यामखिलागमान्त-विदित-ब्रह्म-स्वरूपां शिवां।
सत्य-ज्ञान-सुखां विशेष-रहितामाद्यन्त-हीनां पराम्।।
आत्मत्वेन विभावयन्नर-वरः सद्यो विमुक्तिं गतोऽ-
प्यादेहान्तमुपासनैक-रसिकः श्रौतं विधिं मानयेत्॥
अथ वेदान्त-संसिद्धां, ब्रह्म-विद्या-स्वरूपिणीम्।
संविदाख्यां परां शक्तिं, प्रज्ञान-घन-लक्षणाम्॥
निष्कलां निष्क्रियां शान्तां, निरवद्यां निरञ्जनाम्।
दिव्याममूर्त-चैतन्य-स्वरूपां चित्-सुखात्मिकाम्॥
महा-वाक्यानुरोधेन, ज्ञात्वा निस्संशयं ततः।
साऽहमस्तीत्यभेदेन, विविक्तिस्था उपासते॥

प्रथम खण्ड

इस खण्ड में निम्न-लिखित विषयों का क्रम-पूर्वक वर्णन किया गया है—

१. **ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय गुरु-स्तोत्र** अर्थात् ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय के अनुसार अभ्यर्चना-पूर्वक **गुरु-पंक्ति (गुरु-परम्परा)** को सादर नमस्कार।

२. **याग-मन्दिर-प्रवेश**— पूजा-मन्दिर में प्रवेश करने से पहले उसके द्वार के **दक्षिण** भाग में **भद्रकाली, उत्तर** भाग में **भैरव** और **ऊर्ध्व** देश में **गणेश** की पूजा कर मौन के साथ **पश्चिम द्वार से याग-मन्दिर** के भीतर जाना चाहिए।

३. **तत्त्वाचमन।**

४. **गुरु-वन्दन** अर्थात् गुरु, परम गुरु और **परमेष्ठि गुरु** का **गुरु-पादुका-मन्त्र** से उपयुक्त मुद्रा द्वारा पूजन करना।

५. **घण्टा-पूजा**—घण्टा बजाकर उसकी पूजा करना।

६. **सङ्कल्प**—पूजा करने की प्रतिज्ञा करना।

७. **आसन-पूजा**—अभिमन्त्रित जल से प्रोक्षित आसन पर बैठकर **द्वीप-नाथ** की पूजा करना।

८. **देह-रक्षा**—चारों ओर से अपने शरीर की रक्षा कर, **श्री-चक्र-पूजा** प्रारम्भ के लिए **दक्षिणामूर्ति** तथा **भैरवनाथ** से आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना करना।

९. **प्राण-प्रतिष्ठा**—**श्रीचक्र** को स्थापित कर उसमें शनैः शनैः जीवन-सञ्चार (**प्राण-प्रतिष्ठा**) करना।

१०. **मन्दिर-पूजा**—**अमृत-सागर** से लेकर **श्रीनगर** के **चवालिस** (४४) **मन्दिरों** की पूजा।

११. **दीप-पूजा**—पूजा-स्थान-स्थित **दीपक** की पूजा।

१. ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय गुरु-स्तोत्र

भूमिका में दिखाया गया है कि **श्रीविद्या** और **ब्रह्म-विद्या** एक ही हैं। अतएव **श्रीविद्या-सम्प्रदाय** और **ब्रह्म-विद्या-सम्प्रदाय** भी एक ही हैं, भिन्न नहीं। सम्प्रदायानुसार **गुरु-पूजा** श्रीविद्या का प्राण है।

२. पूजा-मन्दिर-प्रवेश

'**नित्योत्सव**' नामक **श्रीचक्र-पूजा-पद्धति** के निर्माता **अमृतानन्दनाथ** लिखते हैं—

"**अथ मौनवान् याग-मन्दिरमागत्य**" अर्थात् '**उपासक**' इसके बाद मौन-पूर्वक **पूजा-गृह** में आकर। प्रश्न उठता है कि किसके बाद (अनन्तर)? अर्थात् श्रीगुरु-कृपा से **श्रीविद्या की दीक्षा** के ग्रहणानन्तर (देखें भूमिका पृष्ठ १७) **मौन धारण कर (मौनवान्)**—इसका तात्पर्य यह है कि केवल **वाणी** को बन्द करके ही मौन धारण न करें, अपितु उद्योगिता के तीनों साधन—**मन, वाणी** और **शरीर** को रोक कर उन्हें उनके वैधिक कार्यों से अर्थात् **विचार, शब्द** और **कार्य** से विमुख कर देना चाहिए तथा संसार से सम्बन्ध रखनेवाले **बाह्य विषयों** से उन्हें हटाकर **ब्रह्म** से **अभिन्न अन्तरात्मा**

का अन्वेषण करना (ढूँढ़ना) ही मौनवान् का भाव है। इस विषय में कठोपनिषद् के निम्न-लिखित वाक्य प्रमाण हैं—

यच्छेद्-वाङ्-मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेत् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्-यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
(कठोपनिषद्, १.३.१३)

कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।
(कठोपनिषद्, २.१.१)

याग-मन्दिर—१. याग, २. यज्ञ और ३. अध्वर—तीनों पर्याय-वाची शब्द हैं। शब्द-साधन के अनुसार उनका निर्वचन निम्न-लिखित प्रकार से होता है—

यज देव - पूजा - सङ्गति - करण - दानेषु।
अध्वानं वैदिक-मार्गं राति ददातीति अध्वरः।

इसलिए इनका वास्तविक अर्थ उपासक के लिए निम्न-लिखित है—

गुरु से दीक्षा-ग्रहणानन्तर वैदिक ग्रन्थ तथा तर्क-शास्त्र से विचार द्वारा ब्रह्म की यथार्थ प्रकृति के निर्णय के अनन्तर ज्ञानाग्नि से सम्पूर्ण महद् अहङ्कार को भस्म कर देता है। यह 'ज्ञान-यज्ञ' कहलाता है और 'कर्म-यज्ञ' से श्रेष्ठ (बढ़कर) है—

श्रेयान् द्रव्य-मयाद् यज्ञात्, ज्ञान-यज्ञः परन्तप!
(भगवद्-गीता, ४.३३)

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि, ज्ञान-यज्ञस्य वैभवं।
ज्ञान-यज्ञात् परो यज्ञो, नास्ति विप्राः श्रुतौ स्मृतौ॥
अद्वैत-ज्ञान-यज्ञेन, न तुल्यो विद्यते क्वचित्।
आत्म-याथार्थ्य-विज्ञान-यज्ञं मुक्त्वा नराधमाः।
क्रिया-रूपेषु यज्ञेषु, यतन्ते माययाऽऽवृताः॥
ये लङ्घयन्ति संसार-समुद्रं कर्म-यज्ञतः।
ते महा-तमसा सर्वं, पश्यन्त्येव रविं विना॥
ज्ञान-यज्ञोडुपेनैव, ब्राह्मणो वाऽन्त्यजोऽपि वा।
संसार-सागरं तीर्त्वा, मुक्ति-पारं हि गच्छति॥
(सूत-संहिता, ४.१०.१६२, ६४-६६)

निष्काम कर्म कर अपने मन को पवित्र बनानेवाले एकाग्र-मना अन्वेषकों को ही उक्त प्रकार का **ज्ञान-यज्ञ** विदित है। इस **यज्ञ** का फल **पर-शिव-तत्त्व की प्राप्ति** है अर्थात् **ब्रह्म के साथ** **एकता** प्राप्त करना (**ब्रह्मात्मैक्य**) है—

"इत्थं कायिक - वाचिक - मानसिकैः कर्मभिः प्रक्षीण-कल्मषस्य मुमुक्षोः पर-शिव-स्वरूपावगमाय ज्ञान-यज्ञं प्रस्तौति।"

इस प्रकार **याग-मन्दिर** पवित्र मन की ओर सङ्केत करता है, जो **मन, जीव** और **ब्रह्म की एकता** का ध्यान करने के लिए समर्थ है अथवा कुछ लोग इस विषय में **'भोग्य'** या **दृश्य-जगत्, 'भोक्ता'** (संसार को भोगनेवाला जीव) अर्थात् **जाग्रदवस्था** में **विश्व, स्वप्नावस्था** में **तैजस्** और **सुषुप्ति** में **प्राज्ञ** और जाग्रदवस्था में **स्थूल**, स्वप्नावस्था में **मानसिक** और सुषुप्ति में **आनन्द-मय**—इस प्रकार **भोग-त्रय** मानते हैं। यथार्थ में यह भी कहा जा सकता है कि **उपासक का शरीर स्वयं पूजा का स्थान** (याग-मन्दिर) है। वास्तव में यही बात **नारायणोपनिषद्** के अन्तर्गत **तैत्तिरीयोपनिषद्** के चतुर्थ खण्ड के बावनवें अनुवाक में पूर्णतया और स्पष्टतया बताई गई है। निम्न-लिखित अनुक्रमणिका **'कर्म-यज्ञ'** और **'ज्ञान-यज्ञ'** की रचना में सम्बन्ध रखनेवाले नाना प्रकार के कथनों को दर्शाती है—

'कर्म-यज्ञ' में	**'ज्ञान-यज्ञ' में**
यजमान	आत्मा
यजमान की पत्नी	श्रद्धा
इध्म (समिधा)	शरीर
वेदी	उर (छाती)
कुश	लोम अथवा रोम
कुश-पूलिका	शिखा (चोटी)
यूप (स्तम्भ)	हृदय
घृत (आज्य)	इच्छाएँ
यज्ञ-पशु	क्रोध
यज्ञाग्नि	आत्मान्वेषण
यज्ञ-दक्षिणा	एकता की ओर ले जानेवाला यह विचार कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म-मय है।

'कर्म-यज्ञ' में	'ज्ञान-यज्ञ' में
होता	जिह्वा
उद्‌गाता	प्राण
अध्वर्यु	चक्षु
ब्रह्मा	मन

तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानाः, श्रद्धा पत्नी, शरीरमिध्मं, उरो वेदिः, लोमानि बर्हिः, वेदः शिखा, हृदयं यूपः, काम आज्यं, मन्युः पशुः, तपोऽग्निः, शमयिता दक्षिणा, वाग्घोता, प्राण उद्-गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा।

इस प्रकार '**ज्ञान-यज्ञ**' तीक्ष्ण ज्ञान-चक्षु **अन्न-मय, प्राण-मय, मनो-मय** और **विज्ञान-मय** कोशों से बने हुए इस शरीर में **अन्तरात्मा** का प्रत्यक्षीकरण है। '**नित्योत्सव**' आगे लिखता है—

तस्य पश्चिम-द्वारे तिष्ठन् तस्य दक्ष-वाम-शाखयोः ऊर्ध्वे च क्रमेण भद्रकाली-भैरव-लम्बोदराख्य-द्वार-देवताः सम्पूज्य।

याग-मन्दिर के **पश्चिम द्वार** पर खड़ा होकर उसके **द्वारपाल-देवता—भद्रकाली** को दक्षिण में, **भैरव** को वाम भाग में और **लम्बोदर** (गणेश) को ऊर्ध्व भाग में पूजकर, **पश्चिम द्वार** से प्रवेश करने पर उपासक के मुख की ओर **पूर्व दिशा**, दक्षिण और वाम-भाग की ओर **दक्षिण** तथा उत्तर और पृष्ठ-देश की ओर **पश्चिम** दिशा है।

'**भावनोपनिषद्**' के '**पुरुषार्थ-सागराः**'—इस वचन के अनुसार मानव प्रयत्न के चार उद्देश्य अर्थात् **१. धर्म, २. अर्थ, ३. काम** और **४. मोक्ष**-शरीर के **पश्चिम, दक्षिण, पूर्व** और **उत्तर भाग** का यथा-क्रम निरूपण करते हैं। इस प्रकार पश्चिम द्वार '**धर्म**' का निरूपण करता है और द्वार पर खड़ा होना '**धर्म-मार्ग**' पर दृढ़ता के साथ संस्थित होना दर्शाता है। धर्म '**मोक्ष**' का द्वार है अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति के लिए '**धर्म**' मुख्य साधन है और '**अर्थ**' तथा '**काम**' उसके सहायक हैं।

भद्रकाली—वेदान्त-जिज्ञासा के साथ संसर्ग रखनेवाली निर्भयतावस्था की साधन-कर्त्री अर्थात् **जीव की ब्रह्म के साथ एकता** का प्रतिपादन करनेवाली एक मानसिक प्रकृति है—

भद्रं शुद्धात्म-विज्ञानं जीव-ब्रह्मैक्य-रूपं कलयतीति भद्र-काली।

संक्षेप में इसका अर्थ '**अध्यात्म-शास्त्र**' का विचार है, मन के शान्त स्वभाव में चेतनता का आरोप '**भैरव**' है। यह **भैरव** शान्ति-मय आनन्द के साधन और प्राप्ति के मार्ग की सम्पूर्ण बाधाओं को दूर करता है।

"**आनर्थिकस्य अज्ञानस्य भीषणात् अस्ति भाति प्रिय-रूपाखण्डाकार-वृत्ति-रक्षणात् स्व-स्वरूप-ज्ञापक-रूप-मोक्ष-वमनात् भैरवः।**"

'**लम्बोदर**'— अखण्डानन्द-मयी अवस्था अथवा परिपूर्ण सन्तोष-मयी अवस्था का निरूपण करते हैं। इस प्रकार **तीन द्वारपाल-देवता—१. भद्रकाली, २. भैरव** और **३. लम्बोदर** तीन मानसिक स्वभाव (प्रकृति)—**१. विचार, २. शान्ति** और **३. सन्तोष** का निरूपण करते हैं। साधु-सङ्गम के साथ ये (उपरि-निर्दिष्ट) तीनों ज्ञान '**वाशिष्ठ**' के '**मुमुक्षु-प्रकरण**' में मोक्ष के द्वार-पाल बताए गए हैं—

मोक्ष-द्वारे द्वार-पालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधु-सङ्गमः॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन, चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते, मोक्ष-राज-गृहे तथा॥

साधु-सङ्गति द्वारा मन के इन तीन भावों की प्राप्ति के बिना '**मोक्ष**' की प्राप्ति असम्भव है। अतएव '**नित्योपासना**' नामक पूजा-पद्धति का बनानेवाला अपने ग्रन्थ में '**सम्पूज्य**' (अच्छे प्रकार से पूजन कर)—इस शब्द का प्रयोग कर उनकी प्राप्ति में ज्यादा जोर देता है।

३. तत्त्वाचमन

तत्त्वाचमन (तत्त्वों का निगरण अथवा पान)—**१. आत्म-तत्व, २. विद्या-तत्त्व** और **३. शिव-तत्त्व**—इन तीनों के समुदाय (जाति) से बने हुए संसार के विश्लेषण को तथा सच्चिदानन्दावस्था में दृढ़ता से स्थित होकर और '**ज्ञान-जल**' से तीन '**मल**' अर्थात् **१. आणव, २. मायिक** और **३. कार्मण** अथवा **१. स्थूल, २. सूक्ष्म** और **३. कारण**-देहों के तथा इनके **१. विश्व, २. तैजस** और **३. प्राज्ञ** नामक रक्षकों (अभिमानियों) का शोधन करना सूचित करता है।

'**तत्त्व**' और उनका विश्लेषण तथा तीन प्रकार के '**मलों**' का विशेष वर्णन '**प्रस्तावना**' पृष्ठ ४३-४४ पर देखना चाहिए।

४. गुरु-पादुका मन्त्र (गुरु की पादुकाओं का मन्त्र)

इस सम्बन्ध में '**पादुका**' शब्द की व्युत्पत्ति निम्न-लिखित प्रकार से की गई है—

पालनात् सर्व-दुरित-क्षालनेन महद्-भयात्।
कांक्षितार्थ-प्रदानत्वात् पादुकेत्यभिधीयते॥ (कुलार्णव)

शिष्य के सम्पूर्ण पापों को धो डालने से तथा बड़े भारी सांसारिक भय से रक्षा करने के कारण और मन की अभिलाषा (मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा) को पूरी कर देने से '**पादुका**' कहलाती है। जिस प्रकार सामान्य **काष्ठ-पादुका** (खड़ाऊँ) धारण करनेवाले पुरुष के पैरों की कण्टक आदि से रक्षा करती है, उसी प्रकार '**गुरु-पादुका मन्त्र**' भी **गुरु-चरणों के संसर्ग** द्वारा शिष्य का संसार से शाश्वतिक संरक्षण करता है।

गुरु '**महा-वाक्य**' का उपदेशक है। अतः उपयुक्त ही है कि '**गुरु-पादुका मन्त्र**' भी उपदेश—**महा-वाक्य** की प्रकृति का हो, अर्थात् '**गुरु-पादुका मन्त्र**' और '**महा-वाक्य**'—दोनों का एक ही स्वभाव (अर्थ) होना चाहिए।

'**गुरु-पादुका-मन्त्र**' महा-वाक्य के तीन पदों '**त्वं**', '**तत्**' और '**असि**' के अनुरूप तीन खण्डों से बना है। उपासक के **गुरु** के नाम से संयुक्त मन्त्र का प्रथम भाग '**त्वं**' पद के आशय की व्याख्या करता है। इसी प्रकार दूसरा भाग उपासक के **परम गुरु** के नाम से सम्बन्धित है और '**तत्**' के विषय में कहता है तथा तीसरा भाग उपासक के **परमेष्ठि गुरु** के साथ संसर्ग रखता है और '**असि**' की व्याख्या करता है।

'**गुरु-पादुका मन्त्र**'— **मृगी मुद्रा** के साथ उच्चारण किया जाता है। '**मृगी**' का अर्थ मृग की स्त्री है। '**मृग**' बड़े वेग से भागता है। शीघ्र चलनेवाले मनुष्य के लिए मृग के समान शीघ्र-गामी की उपमा दी जाती है। '**मन**' अपनी शीघ्र गति के कारण शास्त्रों में सामान्यतया मृग के साथ सम्बन्धित है।

'**मृगी मुद्रा**' का प्रस्ताव मृग के समान शीघ्र वेगवाले '**मन**' का नियन्त्रण तथा उसको '**सहस्रार**' में पहुँचाकर '**पर-शिव**' के साथ संयुक्त कराता है। '**योग-सूत्र**' कहता है कि "**योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः**" अर्थात् '**मन**' के विकारों को रोकना '**योग**' है और योग द्वारा यह नियन्त्रण (रोक) वह वस्तु है, जो **बाह्य जगत् के विचारों का उत्पाटन** और **आत्मा के ध्यान में** एकाग्रता पैदा करता है। यही '**मृगी मुद्रा**' से सूचित किया गया है।

५. घण्टा-पूजा

'**घण्टा**' का शब्द '**प्रणव**' (ॐकार) के नाद का अनुकरण करता है, जो '**शब्द-ब्रह्म**' की मूर्ति है। '**घण्टा**' बजाने से और '**प्रणव**' की ध्वनि पैदा करने से, **अविद्या से** उत्पन्न सम्पूर्ण कष्ट दूर हो जाते हैं और मन '**अनन्त**' के साथ तन्मय हो जाता है। प्रणवान्तर्गत '**अ**' और '**उ**' तथा '**म्**'—इन तीन ध्वनियों का आश्रय अनुपम '**नाद-ब्रह्म**' है अर्थात् '**पर-ब्रह्म**' है।

'**घण्टा-पूजा**' के समय पढ़े गए मन्त्र में '**देव**' और '**देवता**'-शब्द '**मन**' की प्रकाश-मय वृत्तियों का निर्देश करते हैं, जो '**आत्म-ज्ञान**' की और '**राक्षस**'-शब्द '**मन**' की विपरीत वृत्तियों का बोध कराता है। '**घण्टा**' का बजाना '**नाद**' के '**ध्यान**' का सूचक है। इस प्रकार का '**ध्यान**' किस प्रकार कार्य-साधक हो सकता है, यह बात '**वरिवस्या-रहस्य**' के १.४५-५१ में पूर्णतया बताई गई है।

६. सङ्कल्प (दृढ़ प्रतिज्ञा)

'**प्राणायाम**' करने के अनन्तर '**समय**' और '**स्थान**' का निर्देश कर यथा-शक्ति अपनी पूजा का उत्तम प्रकार से अनुष्ठान करने के लिए तथा उसके द्वारा परमेश्वर की प्रसन्नता के लिए उपासक को '**सङ्कल्प**' करना चाहिए।

'**इच्छा**' (सङ्कल्प) मन की प्रकृति है। रज्जु में साँप को देखना भ्रान्ति अथवा मिथ्या ज्ञान है। उपनिषदों ने **सङ्कल्प** (इच्छा) को बन्ध का कारण ('**सङ्कल्प-मात्र-सम्भवो बन्धः**) और **निःस्पृहता** (इच्छा के अभाव) को '**मोक्ष**' का कारण माना है।

आत्मा को संसार इत्यादि से भिन्न देखने के कारण '**इच्छा**' बन्धन की हेतु है। यह बाहरी दृश्य **स्थान, समय** और **उद्देश्य** की सीमा के साथ-साथ रहता है। मन की सूक्ष्म-दर्शिता और एकाग्रता की सहायता से तथा कल्पित सीमा-निरूपण से निर्मुक्त होकर और '**स्थान**' आदि की वास्तविक प्रकृति को स्पष्टतया मनन करने से '**शिव**' अन्तरात्मा से भिन्न नहीं है। इस बात को जान लेना ही '**सङ्कल्प**' का विशेष अर्थ है—**सम्यक् कल्पत इति सङ्कल्पः**। **देश-कालौ सङ्कीर्त्य** (देश और काल का उच्चारण कर **समय** और **स्थान** को पार करने के लिए प्रारम्भ में **समय** और **स्थान** के उच्चारण का उद्देश्य है—

देश-कालादि संशोध्य, चासङ्कल्प्य मनोरथम्।
करिष्ये त्रिपुरा-पूजां, मनस्सङ्कल्प-शान्तये ॥

'प्रस्तावना' के ४६वें में जो कुछ कहा गया है, वह इस प्रकरण के लिए उपयुक्त है।

यह 'सङ्कल्प-शुद्धि'— 'ज्ञान-वाशिष्ठ' में वर्णित सात सोपानों (सीढ़ियों) में से तीसरा सोपान है, जो 'तनु-मानसी' (तनु= सूक्ष्म मन) कहलाई गई है। उससे ज्ञानाधिपति परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। विशुद्ध और प्रशान्त मन स्वयं परमेश्वर की कृपा (अनुग्रह) है।

७. आसन-पूजा

पूजा-पद्धति बताती है कि उपासक 'आसन' बिछाकर 'सौः' मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल से उसका प्रोक्षण करे तथा 'योगासनाय नमः' इत्यादि मन्त्रों से उसकी पुष्पादि से पूजा करे। तदनन्तर उस पर बैठकर 'द्वीप-नाथ' की पूजा करनी चाहिए।

'आसन' का उद्देश्य यहाँ पर सत्त्व-गुण की अधिकता से युक्त 'मन' से है। सत्व-प्रधान मन ही स्थिर और एकाग्र होगा। 'स्थिर-सुखमासनम्'—यह योग-सूत्र भी उसकी ओर ही निर्देश करता है। केवल 'स्थिर' और 'एकाग्र मन' में ही पर-शिव के सत् (सत्ता) और आनन्द का स्फुरण होगा।

'सौः' बीज 'स', 'औ' और ':'—इन तीन अक्षरों से बना हुआ है—जो क्रम से 'तत्', 'त्वं', 'असि'—इस महा-वाक्य के सूचक हैं। अतः 'आसन-पूजा' से यह भाव सूचित होता है कि महा-वाक्य के अर्थ का चिन्तन शुद्ध तथा शान्त 'मन' से करना चाहिए।

योगासन इत्यादि आत्मा और ब्रह्म की एकता के लिए उपयुक्त विशुद्ध-मन ही योगासन है। 'वीरासन' वह शक्ति-सम्पन्न मन हैं, जो इदन्ता के भाव (वर्तमान बाह्य जगत्) को अहन्ता में विलीन करने की शक्ति रखता है। 'शरासन' वह गुण-दोष-विवेचक मन है, जिसके द्वारा मनुष्य ब्रह्म की आनन्द-मय प्रकृति का अनुभव करता हे—'शं सुखं राति ददातीति शरम्' अर्थात् जो ब्रह्मानन्द को देनेवाला है।

आधार-शक्ति 'कमलासन'—मूलाधार में निवास करनेवाली कुण्डलिनी-शक्ति जिनके द्वारा चलती है, वे 'मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि' और 'आज्ञा' नामक 'षट्-चक्र' हैं। वे क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन हैं। 'मन' स्वयं कुण्डलिनी के रूप में जीव-शक्ति है। जीवात्म-स्वरूप सुषुम्णा नाड़ी द्वारा ये चक्र (कमल)

प्रकाशित किए जाते हैं। इडा और पिङ्गला क्रमशः सूर्य और चन्द्रमा हैं। **पञ्च-भूत** (तत्त्व), **सूर्य, चन्द्रमा** तथा **मन**—इन आठ स्थानों पर **'पर-शिव'** प्रकाशित होता है। अतः इन **आठ भावों** (सत्ताओं) से बना हुआ सम्पूर्ण जगत् **आधार-शक्ति 'कमलासन'** है। आसन-पूजन के मन्त्र में प्रथम आया हुआ **ॐकार** बीज स्वयं-प्रकाश **'शिव'** का द्योतक है और **'ह्रीं'** बीज सच्चिदानन्द की प्रकृति **चित्-शक्ति** का व्यञ्जक है, जिसके ऊपर पूर्वोक्त **आठ शक्तियाँ** मृषा आरोपित हैं।

इस प्रकार के **'आसन'** पर बैठना सूचित करता है कि उपासक को **निस्सीम ज्ञान** (अनन्त चित्-शक्ति) में **आत्म-विमर्श** (विचार) का अनुसरण करना चाहिए।

द्वीप-नाथ की पूजा—शरीर स्वयं द्वीप है—**'देहो नव-रत्न-द्वीपः'** (भावनोपनिषद्)। इसलिए **'क्षेत्रज्ञ'** अथवा शरीर का स्वामी **'द्वीप-नाथ'** है। **आत्मा** और **पर-शिव** में कोई भेद नहीं है अर्थात् **आत्मा** ही **पर-शिव** है। द्वादश शक्तियाँ **सूर्य की द्वादश कलाओं** की द्योतक हैं और **बारह शक्तियों** का धारण करनेवाला शरीर अमृत-पात्र-स्वरूप **पर-शिव** का व्यञ्जक है। यह **'द्वीप-नाथ'** शब्द का साम्प्रदायिक अर्थ है।

८. देह-रक्षा

पूजा-पद्धति में **'देह-रक्षा'** शीर्षक के नीचे **त्रिपुर-सुन्दरी** की प्रारम्भिक प्रार्थना-समेत विघ्न आदि के निवारण के लिए भगवती की प्रार्थना है और पुनः उपासक के द्वारा भावना-मय (कल्पित) **वह्नि-प्राकार** (अग्नि की दीवार) के भीतर **निगूहन** (रक्षण) और **दिग्बन्धन** का निर्देश है। इसके अनन्तर उपासक को **पूजा** के वास्तविक स्वरूप का **विचार** (ध्यान) तथा योगिनी देवताओं के निमित्त **पुष्पाञ्जलि** चढ़ाकर **'अस्त्र'**- मन्त्र (**फट्**) द्वारा शरीर को शुद्ध करना चाहिए। इसके अनन्तर उपासक को उचित है कि वह पूजा प्रारम्भ करने के लिए **दक्षिणामूर्ति** और **भैरव** की आज्ञा ग्रहण करे। त्रिपुर-सुन्दरी की प्रारम्भिक प्रार्थना का अर्थ निम्न प्रकार है—

"हे त्रिपुर-सुन्दरि! तू ही आत्मा है और तू ही अपने ऊपर अतिशयता से आरोपित स्थूल, सूक्ष्म और कारण-देहों में निगूढ़ वास्तविकता के रूप में प्रकाशमान होती है। मेरे जीव-भाव को दूर करके द्वैत-भाव के अनुभव के भय से मेरी रक्षा कर।"

वह्नि-प्राकार (आग की दीवार) वह मानसिक वृत्ति है, जो बाह्य विचारों के आक्रमण का निराकरण कर **अद्वैत-भाव** के ज्ञान का सम्पादन करती है।

दिग्-बन्ध—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और **स्वर्ग**—इन तीनों जगतों के नाम और रूप के अनुसार (विचार से) अपवित्र मन के कार्यों का प्रतिबन्ध हटाना तथा आत्म-चिन्तन से पवित्र मन को दृढ़ करना ही '**दिग्-बन्ध**' का अर्थ है।

'**पूजा**' की वास्तविक प्रकृति का विचार जड़ और **चेतन** पदार्थों से निर्मित सम्पूर्ण जगत् को **अद्वैत-भाव** के अमृत-रस से आप्लावित कर और समस्त कल्पनाओं तथा विचित्रताओं को दूर कर उपासक को अत्यन्त आनन्द तथा उत्साह के साथ अद्वितीय '**शिव**' को पहचानने के लिए उस **मानसिक वृत्ति** के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए, जो **मनन** और **निदिध्यासन** के साथ **आत्मा** को प्राप्त करती है।

सब पदार्थों को सर्वत्र सर्वदा **शिव-स्वरूप** देखना ही '**परा-पूजा**' है। इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह मन्त्र '**श्री-चक्र**' के '**नव-चक्रों**' के समष्टि मन्त्र से पुष्पाञ्जलि के साथ सम्बन्ध रखनेवाली **योगिनियों** का द्योतक है। जब **चित्-शक्ति** सीमित अनुबन्धन के साथ संयुक्त होती है, तब वह **योगिनी** कहलाती है। ये **योगिनियाँ— प्रकट, गुप्त, गुप्ततर, सम्प्रदाय, कुलोत्तीर्ण, निगर्भ, रहस्य, अति-रहस्य, परापर-रहस्य योगिनी-भेद** से नव शीर्षकों में विभक्त हैं।

'**योगिनी**' वह '**चित्-शक्ति**' है, जो निम्न-लिखित के साथ सम्मिलित है—

१. प्रकट	जाग्रदवस्था (जागने की दशा)।
२. गुप्त	स्वप्नावस्था, जिसमें पुरुष स्वप्न देखता है।
३. गुप्त-तर	सुषुप्तावस्था (गहरी नींद की दशा)!
४. सम्प्रदाय	ईश्वर का निरूपण (विचार)!
५. कुलोत्तीर्ण	गुरु के निकट उपस्थिति और उसकी पूजा।
६. निगर्भ	श्रवण।
७. रहस्य	मनन।
८. अति-रहस्य	निदिध्यासन।
९. परापर-रहस्य	निर्विकल्प समाधि।

शरीर को पवित्र करना—'**ऐं हः अस्त्राय फट्**'— इस मन्त्र का अर्थ शरीर को पवित्र बनाना है. '**ऐं**' —यह वाग्भव बीज '**अ**', '**ई**', '**अ**' और '**म्**'—इन चार अक्षरों से बना हुआ है। ये चार अक्षर क्रमशः **ऋग्, यजुष्, साम** और **अथर्वण** वेद का निरूपण करते हैं। यह शास्त्रों का दृढ़ निश्चय है। इस **बीज** की सूचना के अनुसार वेदों का मुख्य आशय (तात्पर्य) **शुद्ध अद्वैत** है। इस बात के अनुभव के लिए यह बहुत आवश्यक है कि संसार के विचार का परित्याग किया जाए, जो **आत्मा** के ऊपर **अविद्या** के कारण अध्यारोपित, अपवित्र, अनित्य, अचिन्त्य और दुःखों से परिपूर्ण है। इस **अध्यास** को दूर करने के लिए **द्वितीय बीज** है, जो **अस्त्र-बीज (फट्)** कहलाता है। **अथर्वण वेद** में **अस्त्र** और **शस्त्र** दोनों हैं। ये **अस्त्र** और **शस्त्र कर्म-काण्ड** से सम्बन्ध रखते हैं। **ज्ञान-काण्ड-स्वरूप ब्रह्म-विद्योपासना** में सत्यता का ज्ञान ही **अस्त्र** है। '**हः**' बीज '**ह्**', '**र्**' और '**:**' (विसर्ग)—इन तीन अक्षरों से बना है। **विसर्ग** अथवा सम्पूर्ण विरचित **जगत्** (सृष्टि) का सार '**ब्रह्म**' है, जो प्रकाश '**ह**' और विमर्श '**र**' की प्रकृति का है। इसलिए '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'—यह सब '**ब्रह्म**' है। '**नेह नानाऽस्ति किञ्चन**'—यहाँ अन्य अनेक कुछ नहीं है, इत्यादि '**उपनिषद्**' के विचारों की दृढ़ भावना ही '**अस्त्र**' है।

शास्त्रों का दृढ़ निश्चय है कि इस प्रकार के विचार '**अद्वैतता**' के सम्पूर्ण अपवित्र भावों को पवित्र बना देते हैं।

दक्षिणामूर्ति और भैरव की आज्ञा—इस सम्बन्ध में दो प्रार्थनाएँ निम्न-लिखित हैं—

१. भक्तों के ऊपर कृपा करनेवाले हे दक्षिणामूर्ति गुरुदेव! मुझे **श्रीचक्र की पूजा** के लिए आज्ञा प्रदान कीजिए।

२. प्रलय-कालीन अग्नि के समान भयङ्कर तथा महा-काय, हे भैरव! तुम्हारे लिए नमस्कार हो, मुझे कृपा कर आज्ञा दीजिए।

इस स्थान पर बहुत आवश्यक है कि उपासक '**दक्षिणामूर्ति**' के '**मन्त्रार्थ**' पर विचार करें—

"**ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्त्तये मह्यं मेधां प्रयच्छ स्वाहा।**"

'**ॐ**' का अर्थ '**ब्रह्म**' है, जो **स्थूल, सूक्ष्म** और **कारण-जगत्** से बने हुए विश्व का अतिक्रम करता है तथा जो **अन्तरात्मा** से भिन्न नहीं है और जो '**तत्त्वमसि**' इत्यादि **महा-वाक्यों** से लक्षित है। '**भगवान्**' का अर्थ सर्व-

व्यापक तथा सर्व-शक्तिमान है। **'दक्षिणामूर्ति'** —शब्द के **'दक्षिण'** और **'अमूर्ति'**—इस प्रकार दो खण्ड किए जा सकते हैं। **'दक्षिण'** (कुशल) का अर्थ यहाँ पर **सगुण ब्रह्म** है, जिसकी कुशलता संसार के **उत्पादन, संरक्षण** तथा **संहरण** में स्पष्ट है। **'अमूर्ति'** से **निर्गुण ब्रह्म** लिया गया है। **'भगवते'** और **'दक्षिणामूर्त्तये'**—इन पदों में सम्प्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति) समानता का द्योतन करता है। **'नमः'**—इस नमस्कारात्मक अव्यय में से **'म'** शब्द **जीव** के लिए आया है, जो **अन्तःकरण** के साथ सीमित है और जो **'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ'**—इस प्रकार का अनुभव करता है। **'न'** यह निषेधार्थक अव्यय है। अतः **'नमः'** का अर्थ हुआ—**न** = नहीं, **म** = जीव अर्थात् **'जीव नहीं है'** । **'मेधा'** उस बुद्धि को कहते हैं, जो **संशय, यथार्थ ज्ञान की न्यूनता** और **विपरीत बुद्धि**—इन तीन दोषों से रहित हो। **सविकल्प समाधि** की दशा में जीव और **ब्रह्म** की **अखण्डैकता** का अनुभव करनेवाला मन **'प्रज्ञा'** है। **'प्रयच्छ'** (देना) देने का द्योतक है अर्थात् **हे भगवन्! पूर्व-जन्म के मानसिक संस्कार द्वारा यथार्थता को छिपानेवाली सम्भ्रम और चित्त के विक्षेप की उत्पादकता—अविद्या के निराकरण से मुझे 'समाधि' कहनेवाली उस मानसिक दशा को प्रदान करो, जिसमें असीम 'ब्रह्म' का प्रत्यक्षीकरण होता है।**

उस मानसिक दशा को भी केवल **ब्रह्म** में मिला देना **'स्वाहा'** का अर्थ है।

'भैरव'-शब्द के अर्थ की व्याख्या पृष्ठ ५६ पर दी गई है। यह परम आवश्यक है कि यहाँ उसका भी विचार किया जाए।

९. प्राण-प्रतिष्ठा

'प्राण-प्रतिष्ठा' एक प्रकार का कल्पना-शील (भावना-परक) कार्य है। किसी **प्रतिमा, यन्त्र** अथवा **जल-पूर्ण कलश** में प्रतिष्ठित, पूजा के योग्य किसी **देवता** का ध्यान करना **प्राण-प्रतिष्ठा** कहलाती है क्योंकि **उपासक** अपने ही **प्राण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय** और **अन्तःकरण** (चेतना इत्यादि) को अपनी **इच्छा-शक्ति** के द्वारा **देवता के प्राण** इत्यादि में संयुक्त करता है। यतः प्रतिष्ठित **देवता** में और कृत-सङ्कल्प **उपासक** में कोई भेद नहीं है, अतः यह केवल **'अहं-ग्रहोपासना'** है। **प्राण-प्रतिष्ठा** का वास्तविक अर्थ सर्व-व्यापिनी **चित्-शक्ति का ज्ञान** है, जो (चित्-शक्ति) तत्त्वतः **सच्चिदानन्द** है और जो

प्राणों की भी प्राण और **मन की भी मन** है तथा भेद-भाव को पैदा करनेवाली आन्तरिक और बाह्य उपाधियों को दूर कर देनेवाले **ब्रह्म** से भिन्न नहीं है। वह वस्तु, जो **नाम** और **रूप** के सीमा-निरूपण के दूर करने पर अपने तत्त्व में उपलब्ध होती है, भले प्रकार से **प्रतिष्ठित** कही गई है। सर्व-व्यापक **एकत्व** का अनुभव करनेवाला मन यथार्थ **प्राण-प्रतिष्ठा** के लिए प्रथम अपेक्षित है।

यह ध्यान देने योग्य है कि '**प्राणो ब्रह्म**'—इस उपनिषद् की मूल उक्ति के अनुसार **प्राण** का अर्थ **ब्रह्म** है।

प्राण-प्रतिष्ठा मन्त्र—इस मन्त्र का देवता '**ॐ**' से निरूपित '**चित्-शक्ति**' और '**आं**' से निरूपित **ब्रह्म-शक्ति** '**बीज**' तथा **माया-बीज** '**ह्रीं**' '**शक्ति**' और '**क्रों**'—यह **अंकुश-बीज** '**कीलक**' है। अतएव **चित्-शक्ति** **ब्रह्म** से अविच्छेद्य है तथा वह उसकी स्वाभाविक **शक्ति** है। **चित्-शक्ति** अपनी ही **सत्ता** में **माया-शक्ति** को उत्पन्न करती है अथवा विस्मृत करती है तथा उसके (**माया के**) द्वारा सम्पूर्ण जगत् को अस्तित्व (**सत्ता**) में ले आती है। यहाँ पर **जगत्** का अर्थ **नाम** और **रूप** से बना हुआ उपभोग के योग्य प्रत्येक **पदार्थ** है अर्थात् **जगत्** से **नाम-रूप**-मय भोगने के लायक सब पदार्थों का ग्रहण है। जब यह **नाम** और **रूप** का भेद, जो ज्ञान का अधिष्ठान है और जिसमें यह संसार ठहरता है, **अंकुश-बीज** द्वारा उच्छिन्न हो जाता है, तब **सच्चिदानन्द** की प्रकृति **चित्-शक्ति** सम्यक्तया **प्रतिष्ठित** हो जाती है।

सर्व-जगतोऽधिष्ठानत्वात् प्रतितिष्ठित्यस्यां विश्वमिति प्रतिष्ठा।
विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।
प्रतिष्ठा सर्व-भूतानां प्रज्ञैषा पारमेश्वरी। (सूत-संहिता ब्रह्म-गीता)

'**ॐ हंसः सोऽहं, सोऽहं हंसः शिवः**'—इस मन्त्र का अर्थ निम्न-लिखित है—"**मैं वह पर-शिव हूँ, जो मङ्गल की मूर्ति है और जो वाणी द्वारा 'ॐ'—इस अक्षर से व्यक्त होता है, वह मैं हूँ।**" यदि कोई यह प्रश्न करे कि इस प्रकार का **शिव** कहाँ पर प्रतिष्ठित है? तो उसके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा—**पर-शिव** '**हं, यं, रं, लं**' और '**वं**'—इन पाँच अक्षरों से निर्दिष्ट **पञ्च-भूतों** तथा '**शं, षं**' और '**सं**' से सूचित क्रम-पूर्वक **मन**, **बुद्धि** और **अहङ्कार** में प्रतिष्ठित है। ये आठ—**पञ्च-भूत, मन, बुद्धि** और **अहङ्कार**—'**सूक्ष्म शरीर**' (**पुर्यष्टक**) को तथा उससे विस्तृत '**स्थूल शरीर**' को बनाते हैं।

भूमिरापोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(भगवद्-गीता, ७.४)

मनो-बुद्धिरहङ्कारः खानिलाग्नि-जलानि भूः।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ...............॥

(शारीरक उपनिषद्)

क्या इससे हम इस परिणाम पर नहीं पहुँचते हैं कि यह एक-मात्र इस सम्पूर्ण जगत् की एकता का ज्ञान है तथा **उपासक, चित्-शक्ति** और **पर-शिव** भी उससे भिन्न नहीं हैं। यही **प्राण-प्रतिष्ठा** का उद्देश्य है।

१०. मन्दिर-पूजा

इस प्रकार जिस किसी पदार्थ में '**अहं**'-शब्द की अधिष्ठान '**चित्-शक्ति**' अपने **नाम** और **रूप** के साथ दृश्य-जगत् के आधार की तरह प्रतिष्ठित है और जो '**शिव**' से अभिन्न है, वह '**मन्दिर, नगर**' अथवा '**श्रीचक्र**' के नाम से प्रसिद्ध है। अतः यह निःसङ्कोच भाव से कहा जा सकता है कि मानव शरीर अथवा अखिल जगत् को ही '**श्रीचक्र**' समझना चाहिए—

देहो देवालयः प्रोक्तो, जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञान-निर्माल्यं, सोऽहं-भावेन पूजयेत्॥

'**चित्-शक्ति**' बुद्धि-रहित जड़ पदार्थ को भी व्याप्त करती है, अतः वे जड़ पदार्थ भी '**मन्दिर**' माने जाते हैं क्योंकि वे या तो **अन्तःकरण** की वृत्तियों से अथवा '**साक्षी**' (कूटस्थ) द्वारा जाने जाते हैं।

चवालीस मन्दिरों की व्याख्या

१. अमृताम्भोनिधि (अमृत का समुद्र)—'**चित्-शक्ति**' सर्व-व्यापिनी है, अतः वह **मन्दिर** अथवा **नगर** के बाहर भी विद्यमान है। वह '**चित्-शक्ति**' ही अमृत का सागर कही गई है। अतः वह सीमा-रहित और अविनश्वर है।

२. रत्न-द्वीप—चित् (ज्ञान) के समुद्र के ऊपर अध्यासित जड़ जगत् '**रत्न-द्वीप**' है। उपाधियों के दृष्टि-कोण से जो उपाधियाँ जड़ जगत् को वेष्टित करती हैं, वे (जड़ जगत्) '**द्वीप**' कही गई हैं। **नाम** और **रूप** की उपाधियों के दूर होने पर जब '**चित्**' (ज्ञान) प्रकाशित होता है, तब वह '**रत्न-द्वीप**' कहलाता है। **भावनोपनिषद्** भी **शरीर** को '**नव-रत्न-द्वीप**' मानता है।

३. **नाना-वृक्ष-महोद्यान**—यह बड़ा भारी उद्यान '**रत्न-द्वीप**' अथवा मानव शरीर में स्थित है, जिसके भीतर नाना प्रकार के वृक्ष खड़े हैं। जिस भाँति नाना प्रकार के वृक्ष विविध आस्थावाले अनेक जाति के फलों को देते हैं, उसी प्रकार **मन** में भी नाना-विध **कर्म-वासनाओं का समुदाय** अथवा नाना प्रकार के **पूर्व-कर्मों के संस्कार** विद्यमान हैं, जो क्रमानुसार **विविध प्रकार के फलों (भोगों)** को देने में समर्थ हैं। यह '**लिङ्ग-शरीर**' कहा गया है और यही '**नाना-वृक्ष-महोद्यान**' है।

४. **कल्प-वाटिका** (कल्प-वृक्षों की बगीची)— '**सङ्कल्पाः कल्प-तरवः**'—'भावनोपनिषद्' के इस वाक्य के अनुसार '**मन**' अपने **सङ्कल्प** और **विकल्पों** के साथ अर्थात् मन के **निश्चय** और **परिवर्तन** ही **कल्प-वाटिका** हैं अथवा **मनोवाञ्छित फल** को देनेवाले वृक्षों का बगीचा है। मन में क्रम से एक के अनन्तर दूसरा विचार उत्पन्न होता है और पुनः उसके उपरान्त तीसरा। इस प्रकार विचार-धारा चलती रहती है। अतएव '**मन**' को '**उद्यान**' माना गया है। '**कल्प-वृक्ष**' वह वृक्ष है, जो **मनोवाञ्छित अभिलाषा (इच्छा)** को पूरी करता है अर्थात् **मन** की चाही हुई वस्तु को देता है। यदि **मन** किसी वस्तु की इच्छा करता है, तो वह निश्चय से या तो इस जन्म में उसे प्राप्त करेगा अथवा आगे होनेवाले किसी दूसरे जन्म में पाएगा। किंच, **चक्षु, कर्ण** आदि अपनी **पाँच ज्ञानेन्द्रियों** द्वारा **रूप, शब्द** आदि के **संस्कार** प्राप्त करने से तथा **सुख** और **दुःख** को अनुभव करने से '**मन**' **जीव के लिए उपभोग-गृह (स्थान)** के समान व्यवस्था करता है अर्थात् **जीव** को **सुख-साधन** प्रदान करतां है। यही कारण है कि उपनिषद् में '**कल्पकोद्यान**' (कल्प-वाटिका) का निरूपण **तेज** में किया गया है—'**तेजः कल्पकोद्यानम्**' अर्थात् '**कल्पकोद्यान**' (कल्प-वाटिका) **तेज** है।

५. **सन्तान-वाटिका, ६. हरिचन्दन-वाटिका, ७. मन्दार-वाटिका, ८. पारिजात-वाटिका, ९. कदम्ब-वाटिका**—ये पाँच वाटिकाएँ सामूहिक अन्तःकरण के पृथक्-पृथक् भाग हैं। **अन्तःकरण** सत्त्वांश **आकाशादि** पञ्च-भूतों का समूह है। इन पञ्च-भूतों का प्रत्येक **सत्त्वांश** क्रमशः **हृदय, अहङ्कार, बुद्धि, चित्** और **मन** है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी **पञ्च महा-भूतों** के **सत्त्वांश** से ही उत्पन्न हुई हैं। अतएव उक्त **पाँच वाटिकाओं** से उनका निर्देश निम्न-लिखित प्रकार से किया गया है—

वाटिका के भाग	अन्तःकरण	सत्त्वांश	ज्ञानेन्द्रिय
(१) सन्तान-वाटिका	हृदय	आकाश	श्रोत्र (कान)
(२) हरिचन्दन-वाटिका	अहङ्कार	पृथ्वी	नासिका (घ्राण)
(३) मन्दार-वाटिका	बुद्धि	अग्नि	चक्षु
(४) पारिजात-वाटिका	चित्	जल	रसना
(५) कदम्ब-वाटिका	मन	वायु	त्वगिन्द्रिय

'पर-देवता' का निवास-स्थान **'श्रीनगर'** कहा गया है। **'ललितोपाख्यान'** और **'ललिता-सहस्रनाम'** कहते हैं कि **'श्रीनगर'** की **पचीस प्राङ्गण-भित्तियाँ** हैं। ये पचीस दीवारें २५ (पञ्च-विंशति) तत्त्व हैं।

> **रत्न-द्वीपे जगद्-दीपे, शत-कोटि-प्रविस्तरे।**
> **पञ्च-विंशति-तत्त्वात्म-पञ्च-विंशति-वप्रके।**
> **त्रिलक्ष-योजनोत्तुङ्गे-श्रीविद्यायाः पुरं परम्।**

ये **प्राकार** (दीवारें) तीन श्रेणियों में विभक्त हैं अर्थात् कुछ **प्राकार** धातुओं से, कुछ रत्नों से और कुछ महा-पद्माटवियों से बने हुए हैं। **लौह-मय प्राकार** से लेकर **स्वर्ण-मय प्राकार** पर्यन्त आठ **'प्राकार'** धातुओं से बनाए गए हैं। इनके मध्य भाग में नाना **वृक्ष-महोद्यानों** से लेकर **कदम्ब-वाटिका** पर्यन्त **सात विशाल आराम** बने हुए हैं और इन उप-वनों में **समय** की मूर्ति-स्वरूप **बसन्त, ग्रीष्म** आदि **षट्-ऋतुएँ** निवास करती हैं। **आयुर्वेद** का यह निश्चित सिद्धान्त है कि **षट्-रसों** में से **मधुर, अम्ल** आदि प्रत्येक रस **बसन्त, ग्रीष्म** आदि प्रत्येक ऋतु से प्राधान्य प्राप्त करता है।

रत्न-प्राकार	धातु	उत्पत्ति
१०. **पुष्पराग (पोखराज** Topaz)	मांस (Flesh)	शक्ति
११. **पद्मराग (लाल** Ruby)	ओजस् (Strength)	शिव
१२. **गोमेद** (Sardonyx)	मेदस् (चर्बी Fat)	शिव
१३. **वज्र (हीरा** Diamond)	अस्थि (हड्डी Bone)	शक्ति
१४. **वैदूर्य (नीलम,** Lapislazuli)	त्वक् (Skin)	शक्ति
१५. **इन्द्र-नील (महा-नील,** Sapphire)	रोम (Hair)	शिव
१६. **मुक्ता (मोती,** Pearl)	शुक्र(वीर्य Semen)	शिव
१७. **मरकत (हरित मणि,पन्ना,** Emerald)	मज्जा (Marrow)	शिव

१८. **विद्रुम (मूँगा, Coral)**	रुधिर (Blood)	शक्ति
१९. **माणिक्य-मण्डप**	ओज-समूह	हृदय
२०. **सहस्र-स्तम्भ-मण्डप**	सहस्र-कमल	—
२१. **अमृत-वापिका**	द्वादशान्त	—
२२. **आनन्द-वापिका**	ललाट-मध्य	—
२३. **विमर्श-वापिका**	भ्रू-मध्य	—

टिप्पणी— '**वापिका**' एक जल-पूर्ण सरोवर है। **वेद** के अनुकूल ज्ञान के रूप में '**जल**' **चित्-शक्ति** है— **ऊँ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म।**

गोमेदक-मणि एक प्रसिद्ध मणि है। इसकी गणना **नव-रत्नों** में है। इसका रङ्ग सुर्खी लिए हुए पीला होता है। यह हिमालय पर्वत तथा सिन्धु नदी में पाई जाती है। जो दोष हीरे में होते हैं, वे इसमें भी होते हैं। यह **राहु ग्रह** की मणि मानी जाती है। इसलिए इसे **राहु-ग्रह-मणि** अथवा **राहु-रत्न** कहते हैं।

'**विमर्श**' चित्-वृत्ति निदिध्यासन में, '**आनन्द**' चित्-वृत्ति सविकल्प समाधि में और '**अमृत**' सहज-स्थिति आरूढ़ावस्था में प्राप्त होता है।

२४. **बालातपोद्‌गार,**

२५. **चन्द्रिकोद्‌गार।**

'**उद्‌गार**' द्वार-मार्ग है। यह उस मानसिक दशा को सूचित करता है, जो प्रसन्नता को देनेवाली **विमर्श-रूप वृत्ति** के नाम से विदित है—

उद्‌गारो लोहित-वर्णं समाह्लादकं वस्तु।

सूर्य और **चन्द्रमा** दो नेत्र हैं। ये **विमर्श** के प्रतिबिम्ब हैं अर्थात् क्रम से **प्रवृत्ति** और **निवृत्ति** हैं। '**उद्‌गार**' की व्याख्या '**ज्ञान का साधन**' भी की जा सकती है। शास्त्र कहते हैं कि **मन** अपनी जिस दशा में **नाम** और **रूप** के बाह्य जगत् को पहचानने के लिए समर्थ होता है, वह **सूर्य-द्वार** है तथा जिस दशा में **सच्चिदानन्द** का **अनुभव** करता है, वह **चन्द्र-द्वार** है।

२६. **महा- शृङ्गार-परिखा**—'**परिखा**' का अर्थ खाईं है। उपासक '**परिखा**' को पार करके ही **स्थिरावस्था** को प्राप्त कर सकता है, जो **पर-देवता** का निवास-स्थान है। '**शृङ्गार**' (शिखर का अग्र भाग) '**अलि-जिह्वा**' का अग्र भाग (शिखर) है, जहाँ **पञ्च-कर्मेन्द्रिय** तथा **मन** अपने व्यापार से उप-रत हो जाते हैं। यहाँ **इड़ा, पिङ्गला** और **सुषुम्ना**— ये तीनों नाड़ियाँ मिलती हैं। यह स्थान भी '**लम्बिकाग्र**' अथवा '**इन्द्र-योनि**' कहलाता है।

२७. **महा-पद्माटवी**— यह या तो **हृदय** है अथवा **सहस्त्रार** अर्थात् **हृदय** और **सहस्त्रार** में से अन्यतर।

२८. **चिन्तामणि गृह-राज**—यह सत्त्व-गुण की अधिकता से युक्त **मन** है।

विशेष :- यह ध्यान देने की बात है कि निम्न-लिखित केवल **शुद्ध मन** के विकार हैं—

२९. **पूर्वाम्नाय-मय पूर्व-द्वार,**

३०. **दक्षिणाम्नाय-मय दक्षिण-द्वार**

३१. **पश्चिमाम्नाय-मय पश्चिम-द्वार**

३२. **उत्तराम्नाय-मय उत्तर-द्वार**

इनसे चार वेद तथा उनके चार **महा-वाक्यों** का बोध होता है।

३३. **रत्न-द्वीप-वलय**—'**वलय**' वह **मानसिक दशा** है, जो सत्य से असत्य का विवेचन करने में समर्थ है।

३४. **मणि-मय महा-सिंहासन**— गुरु द्वारा शिक्षित मन्त्र के अर्थ का अनवरत विचार करना।

३५. **ब्रह्म-मयैक-मञ्च-पाद**—सृष्टि-शक्ति—मूलाधार।

३६. **विष्णु-मयैक-मञ्च-पाद**—स्थिति-शक्ति—स्वाधिष्ठान।

३७. **रुद्र-मयैक-मञ्च-पाद**-संहार शक्ति—मणिपूरक।

३८. **ईश्वर-मयैक-मञ्च-पाद**—तिरोधान शक्ति—अनाहत।

३९. **सदा-शिव-मयैक-मञ्च-फलक**—अनुग्रह-शक्ति—विशुद्धि।

४०. **हंस-तूलिका-तल्प**—प्रलय अथवा सुषुप्ति—आज्ञा।

४१. **हंस-तूलिका-महोपधान**—अविद्या अथवा अज्ञान।

४२. **कौसुम्भास्तरण**—समष्टि, अहङ्कार।

४३. **महा-वितानक**—अव्यक्त, महत्-तत्त्व।

४४. **महा-माया-यवनिका**—मूल ज्ञान, योग-माया।

इन **चवालिस मन्दिरों** का ध्यान उनके अर्थ के साथ करना चाहिए। यह पद्धति के—'**तत्तदखिलं भावयेत्**'— इस वाक्य से सूचित किया गया है।

टिप्पणी—३५ से ३९ तक का अर्थ यह है कि **भगवती के सिंहासन** के चार पहिए **ब्रह्मा, विष्णु,** रुद्र और **ईश्वर** हैं तथा **सदा-शिव** मञ्च के फलक(ऊपर का पट) हैं।

यदि हम इन **चवालीस मन्दिरों** का उपर्युक्त प्रकार से ध्यान करें, तो यह प्रत्यक्ष हो जाएगा कि ये केवल **माया** अथवा **मूल ज्ञान** और उसके **फल** हैं, जो **ब्रह्माभिन्न सच्चिदानन्द** की **प्रकृति—चित्-शक्ति** के ऊपर अध्यासित (अध्यारोपित) हैं।

शुद्ध-विद्या द्वारा **आवरण-पञ्चक** अर्थात् **१. कला, २. अविद्या, ३. राग, ४. काल** और **५. नियति** के दूर करने पर **उपासक** अनुभव कर सकेगा कि **सर्वज्ञता, विश्व-रूपता, नित्य-सता** और **नित्य-सन्तोष**—ये चार गुण **मणि-मय महा-सिंहासन** के **चार पाए** हैं। **पूर्ण स्वातन्त्र्य** का बना हुआ **आसन** सिंहासन के ऊपर बिछा हुआ है। **हंसों** के कोमल **रोमों** (परों) से बना हुआ यह **आसन, 'निदिध्यासन'** है। **बाह्यानुविष्ट समाधि** और **अन्तरानुबिद्ध समाधि**— इसके ऊपर दो **उपधान** (तकिए) लगे हुए हैं। **जीव** और **ब्रह्म** की एकता के भार को उठानेवाली **विमर्श-वृत्ति 'कौसुम्भास्तरण'** है। **निर्विकल्प समाधि 'महा-वितान'** (छोलदारी, आच्छादन) है और आध्यात्मिक विषयों से रहित स्वतन्त्रावस्था अथवा **महा-श्मशान** (अविद्या से उत्पन्न सम्पूर्ण मिथ्या विचारों को जलाने का स्थान) **मणि-मय सिंहासन** के परिसरस्थ (चारों ओर पड़ी हुई) **यवनिका** है और जो इस **मणि-मय सिंहासन** के ऊपर विराजमान है, वह **चित्-शक्ति** है। यही **'श्रीनगर'** है।

११. दीप-पूजा—दीपक की पूजा

'दीप' ज्ञान है। यह अज्ञान के अन्धकार का विनाश करता है। **'दीपक'** जलाने का तत्त्व निम्न-लिखित प्रकार है—

स्नेह (घी, तेल) धारण करनेवाला पात्र **'मन'** है। उसमें भरा हुआ **घृत** वह **'मनोवृत्ति'** है, जिससे **'आत्मा'** का ज्ञान होता है। **'नाम'** और **'रूप'** वाला जगत् ही **वर्तिका** (बत्ती) है। **मन्दानिल**, जो रोका जाना चाहिए—**'प्राण'** अथवा **'निदिध्यासन'** है। **'दीपक'** का प्रज्वालन (जलाना) **शिव के ज्ञान** की अभिवृद्धि है। इस **'ज्ञान-दीपक'** की दीप्ति **'विमर्श-शक्ति'** है।

'दीप-देवी' की प्रार्थना का आशय निम्न-लिखित है—

"**हे दीप-देवि!** तुम **'विमर्श-ज्ञान'** की मूर्ति हो। तुम्हारी कृपा से सदैव मेरे ऊपर मङ्गल-मय **'अद्वैतावस्था'** का स्फुरण होता रहे। **'ज्ञान-यज्ञ'** के स्वभाव (प्रकृति) **'निदिध्यासन'** और **'समाधि'** में मैंने प्रवेश किया है। तुम

अन्धकार से घिरे हुए मेरे '**मन**' को बचाकर उसमें तब तक निरन्तर प्रकाशमान हो, जब तक कि मैं '**सत्यता**' के सीधे विचार को प्राप्त करने में समर्थ होऊँ।"

१२. 'श्री-चक्र' के लिए पुष्पाञ्जलि

श्रीविद्या के मन्त्र पर विचार करना यहाँ पर बहुत आवश्यक है। यह '**मन्त्र-सङ्केत**' के अन्तर्गत पृष्ठ २८ पर दिया गया है। उपासक को यहाँ पर '**विश्वात्मक श्रीचक्र, शरीर**' और '**मन**', '**चित्-शक्त्यात्मिका विद्या**' और '**मन्त्र**' की एकता के विस्तृत '**सङ्केत**' पर ध्यान देना आवश्यक है।

❀ ❀

प्रथम खण्ड का सार

विषय	वासना
गुरु-स्तोत्र	गुरूपसादन (श्रीविद्या का प्राण)।
याग-मन्दिर	शुद्ध मन।
याग-मन्दिर का पश्चिम द्वार	धर्म।
दिक्-पाल	विचार, शान्ति और सन्तोष।
तत्त्वाचमन	नाम और रूप-मय जगत् का पर-शिव में प्रविलयन और सच्चिदानन्द में दृढ़ स्थिति।
गुरु-पादुका मन्त्र	महा-वाक्यार्थानुसन्धान।
मृगी मुद्रा	मन का नियन्त्रण।
घण्टा-पूजा	नादानुसन्धान।
देश-काल-कङ्कीर्तन	देश और काल की सीमा को पार करना।
सङ्कल्प	अन्तरात्मा से शिव को अभिन्न समझना।
आसन	शुद्ध और शान्त मन।
द्वीप-नाथ-पूजा	क्षेत्रज्ञ-भावना।
देह-रक्षा	द्वैतता के अनुभव के भय से रक्षा की इच्छा।

विषय	वासना
वह्नि-प्राकार	आगन्तुक बाह्य विचारों का निराकरण।
दिग्-बन्ध	नाम और रूप-मय जगत् में अपवित्र मन की कार्य-शक्तियों का प्रतिष्टम्भ (रोक)।
सपर्या की वास्तविक प्रकृति	सर्वदा, सर्वत्र सब वस्तुओं को शिव-रूप देखना।
समष्टि-मन्त्र द्वारा अञ्जलि	योगिनियों का चिन्तन।
देह-शुद्धि	'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अनुभव करना।
दक्षिणामूर्ति और भैरव की आज्ञा	ब्रह्मात्मैक्यानुसन्धान।
प्राण-प्रतिष्ठा	उपाधियों के निराकरण से चित्-शक्ति की पहिचान।
मन्दिर-पूजा	नाम-रूप-मय सम्पूर्ण जगत् का चित्-शक्ति के सूचक के रूप में विचार करना।
दीप-पूजा	इस बात का ज्ञान होना कि अज्ञान के नाश के लिए केवल ज्ञान ही एक-मात्र साधन है।
श्रीचक्र के लिए पुष्पाञ्जलि	पञ्च-दशी-मन्त्रार्थ का विचार अर्थात् पञ्च-दशी के मन्त्र के अर्थ का विचार करना।

❀ ❀ ❀

द्वितीय खण्ड

इस खण्ड में निम्न-लिखित विषयों का वर्णन है—

१. **भूत-शुद्धि**— शरीर की विशुद्धि और संस्कार।

२. **आत्म प्राण-प्रतिष्ठा**—आत्मा की सन्तत स्थिति (लगातार रहना)।

३. **प्राणायाम**—पञ्च-दशी मन्त्र द्वारा प्राणायाम करना।

४. **विघ्नोत्सारण**—पूजा के समय में विघ्न-बाधाओं को दूर करना।

५. **शिखा बन्धन**—'नमः'-शब्दोच्चारण-पूर्वक अंकुश-मुद्रा द्वारा शिखा-(चोटी में गाँठ बन्धन लगाना)।

१. भूत-शुद्धि

'**भूत**' का अर्थ है, जो भी पदार्थ उत्पन्न होता है और '**शुद्धि**' का अर्थ है पवित्रता। '**माया**' और '**अविद्या**' तथा उससे उत्पन्न '**पदार्थ**' पञ्च-तत्त्वों से बना हुआ विषय-आश्रित 'जगत्' तथा जीव का यह विचार कि मैं '**कर्त्ता**' और '**भोक्ता**' हूँ,यह सब अपनी वास्तविक '**प्रकृति**' के विषय में जीव के मोह-वश स्वयं उत्पन्न मूल (प्रथम) कल्पना से उत्पन्न होते हैं। इस भावना को हटाना कि '**मैं एक जीव हूँ**'—'**भूत-शुद्धि**' है, जिसे '**धारणा**' भी कहते हैं—

पुरुषे सर्व-शास्तारं, बोधानन्द-मयं शिवम्।
धारयेद् बुद्धिमान् नित्यं, सर्व-पाप-विशुद्धये॥
ब्रह्मादि-कार्य-रूपाणि, स्वे-स्वे संहृत्य कारणे।
सर्व-कारणमव्यक्त मनिरूप्यमचेतनम्।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे, धारयेत् प्रणवे नरः॥
इन्द्रियाणि समस्तानि, वागादीनीह बुद्धिमान्।
विषयेभ्यः समाहृत्य, मनसाऽऽत्मनि योजयेत्॥
धारणैषा मया प्रोक्ता, सर्व-दुःख-विनाशिनी।
न केनाप्युपशान्तिः स्यान्मनसोऽत्रानया विना॥

(तत्त्व-सारायण उपासना-खण्ड)

जिस प्रकार छिलका-युक्त तण्डुल-कण (चावल) **धान** कहलाता है, ठीक उसी प्रकार '**अविद्या**' से अध्यारोपित '**पर-शिव**' को '**जीव-शिव**' नाम दिया गया है। यह '**जीव-शिव**', '**मूलाधार**' अथवा **अन्धता-मिश्र** (घने अन्धकार-मय) स्थान पर '**अज्ञान से आच्छादित**' निवास करता है और उसे '**सुषुम्णा नाड़ी**' द्वारा '**सहस्रार**' अथवा '**ब्रह्म-रन्ध्र**' ले जाकर '**पर-शिव**' में मिलाया जाना है अर्थात् दोनों की एकता कर दी जानी है। '**जीव-शिव**' और '**पर-शिव**' के साथ एकत्व-सम्पादन करनेवाली यह '**सुषुम्णा नाड़ी**'— '**नित्यानित्य-वस्तु-विवेक-वृत्ति**', '**ज्ञान-भूमिका-वृत्ति**' आदि नामान्तरों से भी विदित है अर्थात् '**सत्य**' का '**असत्य**' से भेद करनेवाला वह मानसिक परिवर्तन अथवा जिसका कल्याण करने की इच्छा से प्रारम्भ होता है और प्रस्तावानुकूल अन्वेषण उसको ज्ञान के उच्चतर धरातल पर स्थापित कर देता है अर्थात् उस उपासक के ज्ञान को बढ़ाता है।

जिस प्रकार '**धान**' को '**चावल**' के साथ मिश्रित करने के लिए उसके अपवित्र '**तुष**' (छिलके) को दूर कर देना आवश्यक होता है, उसी प्रकार '**जीव-शिव**' की '**पर-शिव**' के साथ एकता करने के लिए उसकी (**जीव-शिव** की) अपवित्रता को दूर कर देना भी नितान्त आवश्यक है। यह अपवित्रता उसकी (**जीव-शिव** की) त्रिविध मूर्ति है, जो **स्थूल**, **सूक्ष्म** और **कारण** शरीरों से बनी हुई है। '**पर-शिव**' के साथ एकता केवल इस '**त्रिविध शरीर**' के जल कर भस्म होने से ही प्राप्त हो सकती है। अतः इस सीमित शरीर की विशेषताएँ, जैसे—**अपूर्णता**, **अल्पज्ञता**, **अतृप्ति**, **अनित्यता**, **अधीनता** को **वायु-बीज** (**यं**) द्वारा शोषित तथा **अग्नि-बीज** (**रं**) द्वारा भस्म कर देना चाहिए। तब इस अवशिष्ट भस्म को परम **शिवामृत** के जल में भिगो दिया जाता है, जो **सहस्रार से**, **अमृत-बीज** (**वं**) द्वारा सञ्चारित होने लगता है। तदनन्तर, **पृथ्वी-बीज** (**लं**) की सहायता से **शाम्भव शरीर** की उत्पत्ति होती है। यह **शरीर पूर्ण** विकसित '**दैविक**' होने के कारण तथा जिसके अन्तर्गत **पूर्णता**, **सर्वज्ञता**, **नित्य-तृप्तता** व **सर्व** (अनन्त) **शक्ति** विद्यमान होने से पूर्ण-रूपेण चमकता है। **श्रुतियों** के अनुसार "**मैं स्वयं ही** '**शिव**' **हूँ**" की भावना से उपासक को उपासना करनी चाहिए।

यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद्, शिवो भूत्वा शिवं यजेत्।

"**अहं सः, सोऽहम्**" **अर्थात्** "**मैं पर-शिव हूँ, पर-शिव स्वयं मैं हूँ**" के विचार का निरन्तर चिन्तन ही '**उपासना**' है। इस प्रतिबिम्बित स्थिति में

दीर्घ समय तक रहने के अनन्तर **शुद्ध आत्मा** एवं **दैविक शरीर** को **मूलाधार** में पहुँचा करके पूजा की पूर्णता की जाती है। अब '**आत्मा**' यद्यपि '**मूलाधार**' में है, तथापि वह किसी प्रकार भी '**अपवित्र जीव**' नहीं है, क्योंकि अब उसका (आत्मा का) **अनन्त** के साथ ऐक्य होने से वह '**कूटस्थ**' है।

२. आत्म प्राण-प्रतिष्ठा

'**जीव**' के ऊपर अध्यासित '**अविद्या**' '**जीव**' ही का अपवित्र भाग है। उपर्युक्त '**भूत-शुद्धि**' के विचार से जब '**जीव**' की यह अपवित्रता दूर हो जाती है, तब '**प्रत्यगात्मा**' अथवा '**कूटस्थ**' एकाकी (अकेला) रहता है। इस अवस्था में '**आत्मा**' की सन्तत स्थिति (लगातार रहना) '**आत्म प्राण-प्रतिष्ठा**' के नाम से विदित है और इस उद्देश्य से उपासक को अपने दाएँ हाथ को हृदय पर रख कर '**आं सोऽहम्**' मन्त्र का विचार करना चाहिए। '**आं**' ब्रह्म की '**विमर्श-शक्ति**' है और इसके प्रभाव से, बिना किसी संशय अथवा भ्रम के, उसे समझ लेना चाहिए कि '**मुझमें और शिव में कोई भेद नहीं है**' अर्थात् दोनों (**उपासक** और **पर- शिव**) एक हैं। इस मन्त्र की विचार-पूर्वक '**त्रिरावृत्ति**' आत्मा के अध्यास **स्थूल**, **सूक्ष्म** और **कारण** शरीरों को समास कर देगी अर्थात् नाश कर देगी।

३. प्राणायाम

'**प्राण-प्रतिष्ठा**' के उपरान्त उपासक को '**पञ्च-दशाक्षरी मन्त्र**' से **षोडश**, **दश** अथवा **तीन बार प्राणायाम** करना उचित है। '**प्राणायाम**' —श्वास का निरोध और व्यवस्थापन है। यह **रेचक** (खाली करना), **पूरक** (भरना) और **कुम्भक** (रोके रखना)—इन तीन प्रकार से होता है। शरीर के भीतर की हवा को निकाल देना '**रेचक**', बाहर की वायु को नासिका द्वारा भीतर खींचना '**पूरक**' और भीतर भरी हुई वायु को रोके रखना '**कुम्भक**' कहलाता है। '**प्राणायाम**' के **प्रकार-त्रय** के लिए समय की अवधि, शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार की बताई गई है। यद्यपि **श्रीविद्योपासना** '**ज्ञान-योग**' है और '**हठ-योग**' में निर्दिष्ट '**प्राणायाम-विधि**' इसके लिये इतना आवश्यक नहीं है, तथापि यह बात यहाँ पर स्वीकृत है कि '**प्राणायाम**' मानसिक एकाग्रता का प्रवर्तक है। '**पूरक**' के लिए **एक**, '**कुम्भक**' के लिए **चार** और '**रेचक**' के लिए **दो मिनट** का समय-विभाग '**प्राणायाम**' के तीनों भागों के लिए अत्यन्त लाभ-दायक निरूपित किया गया है।

४. विघ्नोत्सारण

[विघ्न-बाधाओं का दूरीकरण]

'**श्रेयांसि बहु-विघ्नानि**' —यह एक लोकोक्ति है। इसका अर्थ यह है कि माङ्गलिक कार्यों में बहुत से विघ्न (रुकावटें) आकर उपस्थित हो जाते हैं। '**विघ्नोत्सारण**' के मन्त्र का अर्थ निम्न-लिखित है—

"जो **भूत** इस **भूमि** में विद्यमान हैं, वे यहाँ से दूर हो जाएँ और जो इस **पूजा** में विघ्न-कारक हैं, वे **शिव की आज्ञा से नाश** को प्राप्त हो जाएँ।"

प्रथम खण्ड में '**देह-रक्षा**' के अन्तर्गत जैसे कहा गया है कि ये (**भूत**) केवल '**द्वैत-भाव**' हैं, जो '**ज्ञान-योग**' के प्रकार— '**विद्योपासना**' के मार्ग में बाधा (रुकावट) डालते हैं। यह पार्थक्य (पृथकता) ही '**भूत**' है, जो '**अविद्या**' से उत्पन्न हुआ है तथा '**स्थान, समय**' और '**पदार्थ**'- निष्ठता की सीमाओं से सीमित है। यह **विभिन्नता** (पार्थक्य) '**पृथ्वी, अन्तरिक्ष**' और '**स्वर्ग**'— तीनों स्थानों में पाई जाती है।

'**शिवाज्ञया**' अर्थात् शिव जी की आज्ञा से—इसका अर्थ भी निम्न-लिखित प्रकार से करना ठीक है—

"**चित्-शक्ति के ज्ञान से, जिसकी प्रकृति सच्चिदानन्द की प्रकृति के समान है और मङ्गल-मय अथवा शिव है।**"

'**शिवाज्ञा**' का यही अर्थ उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

इस प्रकार '**विघ्न-स्वरूप द्वैत-भावों**' के निराकरण से तथा ज्ञान का उद्देश्य पूरा करने से अथवा '**अद्वैतता**' के अनुभव से उपासक को '**परा पूजा**' करनी चाहिए। यह '**परा पूजा**' ही '**निदिध्यासन**' अथवा '**अचल (दृढ़) ध्यान—स्वरूप** है।

५. शिखा-बन्धन

(शिखा में गाँठ लगाना)

'**प्राणायाम**' के अनन्तर अङ्गुष्ठ-मन्त्र '**नमः**' का उच्चारण कर उपासक को '**अंकुश-मुद्रा**' द्वारा '**शिखा-बन्धन**' करना चाहिए। '**कर्म-काण्ड**' के अनुसार '**शिखा**' एक चिह्न है। अतएव '**कर्म- काण्ड**' के मार्ग पर चलनेवालों के लिए यह '**शिखा-बन्धन**' एक अत्यावश्यक वस्तु है। '**श्री-विद्या-सपर्या**' '**ज्ञान-काण्ड**' है। अतएव वास्तविक **शिखा-बन्धन** उपासक के अधोलिखित विचार का द्योतक है—

"यद्यपि मैं 'शिखा' धारण करता हूँ, तथापि मैं 'कर्म-काण्ड' के मार्ग का अवलम्बन करनेवाला 'जीव' नहीं हूँ, जो सदा यह विचार करता है कि मैं 'कर्त्ता' और 'भोक्ता' हूँ, वरन् मैं 'वेद-शिखा' में अर्थात् उपनिषदों में परिगणित 'पर-शिव' हूँ। अर्थात् मैं वह 'जीव' (पर-शिव) हूँ, जिसकी परिगणना उपनिषदों में की गई है।"

'**नमः**'— इस अङ्गुष्ठ-मन्त्र का '**वाच्य**' (मूल) अर्थ '**जीव-भाव**' अथवा '**जीव**' है, किन्तु '**लक्ष्यार्थ**' (द्वितीय अर्थ) है—'**न**'—मैं नहीं, '**मः**' जीव अर्थात् '**मैं**' **जीव नहीं हूँ**। यह अर्थ पहले पृष्ठ ३५ पर लिखा जा चुका है।

जिस प्रकार लोहे के बने हुए एक छोटे से अङ्कुश से बड़े भारी शरीरवाला हाथी वश में किया जाता है, उसी प्रकार '**अङ्कुश-मुद्रा**' से '**जीव-भाव**' और उसके भोगने योग्य अनेक प्रकार की दुःख-परम्परा को देनेवाली '**अविद्या**' के निग्रह तथा उपनिषदों में प्रतिपादित '**अद्वैतता**' का प्रकाशन (निर्देश) होता है।

❀ ❀

द्वितीय खण्ड का सार

विषय	वासना
१. भूत-शुद्धि	जीव-भाव का उच्छेद तथा ब्रह्म-भाव का चिन्तन (ध्यान)।
२. आत्म-प्राण-प्रतिष्ठा	कूटस्थ भाव।
३. प्राणायाम	मन की एकाग्रता।
४. विघ्नोत्सारण	द्वैतता के अनुभव का उन्मूलन।
५. शिखा-बन्धन	'**शिवोऽहम्**' की भावना—यह विचार करना कि '**मैं शिव हूँ।**'
६. अङ्कुश मुद्रा	अविद्या का पराभव (निग्रह)।

❀ ❀ ❀

तृतीय खण्ड

न्यास

इस खण्ड में केवल '**न्यासों**' का ही वर्णन किया गया है। ये '**न्यास**' '**श्रीविद्या**' की पूजा के प्रारम्भ में किए जाते हैं। विभिन्न देवताओं के लिए प्रार्थना और हस्तादि-सञ्चालन के साथ देह के विविध अङ्गों का समर्पण करना '**न्यास**' कहलाता है।

'**न्यास**' —शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक '**त्याग**' और दूसरा '**स्थापन**' (आरोपण)। '**पूजा**' **निदिध्यासन** की प्रकृति है। उसमें '**न्यास**' अत्यावश्यक विषय है। ज्ञानाभिलाषी के प्रतिकूल '**अनात्म-सम्बन्धी**' विचारों का उन्मूलन तथा उसके अनुकूल **आत्म-सम्बन्धी** विचारों का सम्वर्धन '**निदिध्यासन**' कहलाता है। इसी प्रकार '**सपर्या-उपासक**' का अपने शरीर में '**अनात्म-सम्बन्धी**' विचारों का **उत्सर्जन** (त्याग) तथा शिव के विचार का **आरोपण** कि '**मैं शिव की अधिष्ठान-सत्ता-स्वरूप चित्-शक्ति से अभिन्न शिव हूँ**' अर्थात् '**शिव**' की अधिष्ठान-सत्ता '**चित्-शक्ति**' है। '**चित्-शक्ति**' तथा '**शिव**' अलग-अलग नहीं हैं, वरन् दोनों एक ही हैं। यही '**न्यास**' का विशिष्टार्थ है। '**कल्प-सूत्र**' कहता है—

'**देव्यहं-भाव-युक्तः स्व-शरीरे वज्र-कवच-न्यास-जालं विदधीत**'।

अर्थात् उपासक को इस भावना का बार-बार विचार करना चाहिए कि '**मैं चित्-शक्ति हूँ**' तथा मुझे '**न्यास**'- रूपी '**अभेद्य कवच**' धारण करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करने से '**न्यास**'-शब्द अर्थ-द्वय के साथ ठीक घट जाता है क्योंकि यह **तीन शरीरों**, **तीन अवस्थाओं** तथा **पञ्च-कोषों** से भिन्न रहनेवाली '**चित्-शक्ति**', '**मैं (उपासक) स्वयं हूँ**'—इस विचार में दोनों अर्थ परिगृहीत हैं और इनमें '**कूटस्थ भाव**' की अथवा '**अहं**'-पद के **गौणार्थ** की स्थापना तथा **मुख्यार्थ** के जीव-भाव का परित्याग भी अर्थात् इस विचार का परित्याग कि '**मैं कर्त्ता और भोक्ता हूँ**' और '**मैं ही जन्म लेता हूँ**' एवं '**मैं ही मरता हूँ**'—सम्मिलित है।

प्रसङ्ग-वशात् '**अनर्थों की मुक्ति**' और '**आनन्द की प्राप्ति**'-स्वरूप '**मोक्ष**' भी '**न्यास**' की ही प्रकृति का है अर्थात् '**न्यास**' और '**मोक्ष**' —दोनों शब्दों का अर्थ समान है।

ऊपर के उद्धरण में '**न्यास**' का वर्णन '**वज्र-कवच**' अथवा '**अभेद्य कवच**' के समान किया गया है। जिस प्रकार '**कवच**' तनु-त्राण (जिरह-बख्तर) शत्रु के प्राण-घातक (विनाश-कारी) अस्त्र-शस्त्रों से योद्धा के शरीर की रक्षा करता है, उसी प्रकार '**न्यास**' भी उपासक के आन्तरिक शत्रु-स्वरूप '**द्वैतता**' के भाव से उत्पन्न विनाशकारी '**मानसिक विकारों**' से उसकी (उपासक की) रक्षा करता है।

'**मैं चित्-शक्ति हूँ**'—इस भावना का चिन्तन करते समय उसके ('**चित्-शक्ति**' के) '**स्थूल, सूक्ष्म**' और '**पर**'—इन तीन आकारों का स्पष्टतया ज्ञान होना उपासक के लिए अति आवश्यक है।

'**कर, चरण**' आदि अवयवों से विशिष्ट '**चित्-शक्ति**' का स्थूल रूप '**अपरा-पूजा**' के लिए है और इस पूजा को '**मन्दाधिकारी**' करता है अर्थात् पूजा का प्रारम्भ करनेवाला '**चित्-शक्ति**' के '**स्थूल रूप**' की पूजा करता है। यहाँ पर उसके विचार की आवश्यकता नहीं है। '**चित्-शक्ति**' का '**पर-स्वरूप**' चैतन्य-स्वरूप है अर्थात् '**ज्ञान-स्वरूप**' है और वह '**उत्तमाधिकारी**' के लिए अभिप्रेत है। अतएव उसका भी सविस्तार निरूपण यहाँ पर अनावश्यक है।

'**चित्-शक्ति**' का सूक्ष्म स्वरूप '**परापरा-पूजा**' के लिए है। इस पूजा को करनेवाला '**मध्यमाधिकारी**' कहलाता है, जो अपनी '**उपासना**' में सामान्यतया कुछ आगे बढ़ा हुआ रहता है। इसके लिए '**वैज्ञानिक अधिष्ठान**' का अनुसन्धान करना चाहिए क्योंकि यह विषय '**परा पूजा**' से सम्पर्क रखता है।

'**पर-देवता**' का सूक्ष्म स्वरूप '**मन्त्र-मय**' है। सप्त-कोटि महा-मन्त्र यथा—**एकाक्षर-वाला प्रणव** (ॐकार), **दो अक्षर-वाला अजपा मन्त्र, पञ्चाक्षरी, षडक्षरी** इत्यादि **बाला, पञ्च-दशाक्षरी, महा-षोडशी, भुवनेश्वरी, नवाक्षरी** इत्यादि **विद्याएँ** और **अकारादि क्षकारान्त मातृकाएँ पर-देवता के सूक्ष्म स्वरूप** हैं।

मातृका-न्यास

'**मातृकाएँ**' (अक्षर), सप्त-कोटि महा-मन्त्रों की मूल हैं। शिर, हाथ-पैर इत्यादि अवयव-विशिष्ट **पर-देवता** का कल्पित '**स्थूल देह**' है और ध्यान

करने योग्य **अकारादि-क्षकारान्त** शब्दात्मिका जो केवल '**ध्वनियाँ**' हैं, '**मातृकाओं**' से बना हुआ '**चित्-शक्ति**' का सूक्ष्म स्वरूप है।

अकचादि - टतोन्नद्ध - पयशाक्षर - वर्गिणीम्।
ज्येष्ठाङ्ग-बाहु-पादाग्र-मध्य-स्वान्त-निवासिनीम्॥
नित्या-षोडशिकार्णव (१.७)

'मैं पर-देवता हूँ'—इस भावना को '**विद्योपासक**' अपने हृदय में दृढ़ता के साथ स्थापित करना चाहे, तो उसे यह '**मातृका-न्यास**' अवश्यमेव करना चाहिए। '**बहिर्मातृका-न्यास**' और '**अन्तर्मातृका-न्यास**' —भेद से यह न्यास दो प्रकार का है। '**बहिर्मातृका-न्यास**' में **अकारादि** से **क्षकार-पर्यन्त** एक-पञ्चाशद् (५१) अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग को स्पर्श करना चाहिए। यथा— **अं नमः** ललाटे, **आं नमः** मुख-वृत्ते इत्यादि। '**सूत-संहिता**' में लिखा है कि '**मातृकाक्षरों**' के निर्देश किए गए शरीर के बहुत से भांगों में '**शिव**' निवास करते हैं अथवा शिव की प्राप्ति होती है। '**अन्तर्मातृका-न्यास**' में '**ळकार**' को छोड़कर '**अकार**' से **क्षकार-पर्यन्त पचास अक्षर** शरीर के भीतर **षट्-आधार-चक्रों** में निम्न-लिखित प्रकार से विभक्त किए गए हैं—**विशुद्धि में १६, अनाहत में १२, मणि-पूर में १०, स्वाधिष्ठान में ६, मूलाधार में ४, आज्ञा-चक्र में २ और सहस्रार में सबके सब अक्षर एक साथ निवास करते हैं।**

अन्तर्मातृका-न्यास की आध्यात्मिक विशेषता अधोलिखित प्रकार है—

शरीर के भीतर **मूलाधार चक्र** से लेकर **आज्ञाचक्र** पर्यन्त जो **षट्-चक्र** विद्यमान हैं, वे क्रमशः **जल, अग्नि, वायु, आकाश** और **मन** के स्थान हैं। **कुण्डलिनी** के नाम से प्रसिद्ध **जीव-शक्ति**, जो सत्यता, अधिष्ठान-सत्ता, चित्-शक्ति है—**सुषुम्णा नाड़ी** को पार करके जब '**मन**' के साथ **तादात्म्य** (एकता) को प्राप्त होती है, तो मन '**जीव**' कहलाता है। **सुषुम्णा** के दक्षिण भाग में स्थित **पिङ्गला** अथवा **सूर्य नाड़ी** है। **सुषुम्णा** के **वाम** भाग में स्थित **इड़ा** अथवा **चन्द्र-नाड़ी** को यह **कुण्डलिनी** पार करती है। अतएव **जीव-शक्ति** की अधिष्ठान-सत्ता **चित्-शक्ति** का ध्यान उपासक की '**आत्मा**' के समान **षट्-चक्र** और **दो नाड़ियों** में अर्थात् **आठ स्थानों** में ले जाना चाहिए। पूर्वोक्त **आठ स्थान आठ मूर्तियों** के हैं।

कर-शुद्धि-न्यास

'अं, आं, सौः'—इन बीजों के उच्चारण-पूर्वक हाथ और अँगुलियों का स्पर्श करना **'कर-शुद्धि-न्यास'** कहलाता है। ये **बीज** उस **'चित्-शक्ति'** का निर्देश करते हैं, जो **त्रैलोक्य-मोहन-चक्राधीश्वरी, त्रिपुरा-चक्रेश्वरी** के नाम और रूप की अध्यास है अर्थात् इन **'बीजों'** द्वारा **त्रैलोक्य-मोहन-चक्राधीश्वरी, त्रिपुरा-चक्रेश्वरी** का द्योतन होता है।

'नित्योत्सव' के निर्माता **अमृतानन्दनाथ** का मत है कि **'कर-शुद्धि-न्यास'** **आत्म-तत्त्वों (मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय** इत्यादि) को उनके कारण **'शिव-तत्त्व'** में विलुप्त कर देने का उपदेश देता है। संक्षेप में यह कहना ठीक होगा कि **'न्यास'** का उद्देश्य **अपवित्र कर्मोपाधि** का **पवित्र कारणोपाधि** में प्रविलापन कर देना है—

कर्मेन्द्रियाणां वैमल्यात् कर-शुद्धि-करी स्मृता।

(योगिनी-हृदय, ८.१३४)

आत्म-तत्त्व-गतयोरशुद्धयोरत्र कर्म-करणात्मनोर्द्वयोः।
शुद्ध-तत्त्व-लय-भावना-मयी शुद्धिरात्म-करयोः परा मता॥

विशेष—इस बात का उल्लेख करना यहाँ पर अप्रासङ्गिक न होगा कि **'श्री-चक्र'** के बहुत से **'चक्रों की नायिका'** (देवता, ईश्वरी) का निरूपण **'बीजों'** द्वारा होता है। **'नव-चक्राधीश्वरियों'** में से **'नवम चक्र'** अर्थात् **'बिन्दु-चक्र'** की स्वामिनी **'महा-त्रिपुर-सुन्दरी'** हैं। **'पञ्च-दशी मन्त्र'** स्वयं उनका **'बीज'** है। उपरि-वर्णित प्रकार से **'प्रथम चक्रेश्वरी'** की विद्या द्वारा **कर-शुद्धि-न्यास, 'द्वितीय चक्रेश्वरी'**-विद्या से **आत्म-रक्षा-न्यास, 'तृतीय चक्रेश्वरी'**-विद्या से **आत्मासन-न्यास, चतुर्थ चक्रेश्वरी**-विद्या से **चक्रासन-न्यास, पञ्चम चक्राधीश्वरी**-विद्या से **सर्व-मन्त्रासन-न्यास** और **षष्ठ चक्राधीश्वरी**-विद्या से **साध्य-सिद्धासन-न्यास** किया जाता है। **सप्तम चक्राधीश्वरी** की विद्या **मूर्ति-कल्पना** में और **अष्टम चक्राधीश्वरी** की विद्या 'पञ्चम खण्ड' के अनुसार **आवाहन** में प्रयुक्त होती है। **द्वितीय चक्रेश्वरी** तथा अन्य चक्रेश्वरियों की **विद्याएँ** निम्नलिखित हैं—

२. ऐं क्लीं सौः, ३. ह्रीं क्लीं सौः, ४. हैं ह्क्लीं ह्सौः, ५. ह्सैं ह्स्क्लीं ह्स्सौः, ६. ह्रीं क्लीं ब्लें, ७. ह्रीं श्रीं सौः, ८. ह्स्रैं ह्स्क्लीं ह्स्रौः।

उपर्युक्त **नव विद्याओं** का प्रयोग **'चक्र-न्यास'** में किया जाता है।

आत्म-रक्षा-न्यास

यह '**न्यास**' हृदय के निकट अञ्जली बाँधकर '**आत्म-रक्षा**' के लिए **द्वितीय चक्रेश्वरी** के मन्त्रोच्चारण-पूर्वक **श्रीमहा-त्रिपुर-सुन्दरी** की प्रार्थना द्वारा किया जाता है। '**आत्म-रक्षा-न्यास**' के विधान से '**हृदय-ग्रन्थि**' का छेदन अभिप्रेत है। शास्त्रों में इस '**हृदय-ग्रन्थि**' को **अन्योन्याध्यास** (पारस्परिक मिथ्या आरोप) भी कहते हैं। इस '**ग्रन्थि**' का विच्छेदन (कर्तन) '**पर-देवता**' के प्रत्यक्षीकरण से होता है। जब तक यह '**ग्रन्थि**' नहीं कट जाती है, तब तक न तो संशय और भ्रम दूर होंगे और न कर्म-वासनाएँ (पूर्व कर्मों के संस्कार) ही विनष्ट होती हैं। अतएव इस '**ग्रन्थि**' के कटे बिना **जीव-भाव** (भेद-भाव) भी लुप्त नहीं होता है (**मुण्डकोपनिषद्, २.२.८**)—

भिद्यते हृदय-ग्रन्थिः, छिद्यन्ते सर्व-संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

यावत्-काल-पर्यन्त उपासक के हृदय में '**जीव-भाव**' विद्यमान रहता है, तावत्-काल-पर्यन्त उसकी रक्षा नहीं हो सकती है। '**चित्-शक्ति**' आत्मा से भिन्न नहीं है (**आत्मा** से अव्यतिरिक्त है)। मन में इस प्रकार का ज्ञान हो जाना ही '**चित्-शक्ति**' की प्रत्यक्ष प्राप्ति है और यह '**चित्-शक्ति**' की प्राप्ति ही '**आत्म-रक्षण**' है और वही उत्कृष्ट '**इच्छा**' (मनोरथ) है। अतएव '**आत्म-चक्र-न्यास**' का वास्तविक अर्थ यही है।

बाला षडङ्ग न्यास

'**उपासना**' के अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में जो '**चित्-शक्ति**' उपासक के मानसिक क्षितिज में प्रकाशित होती है, वही '**बाला**' कहलाती है। जैसे-जैसे '**उपासना-क्रम**' चलता जाता है, वैसे-वैसे ही '**चित्-शक्ति**' '**त्रिपुर-सुन्दरी**' के स्वरूप में व्यञ्जित होती जाती है। इस अभ्यास के दृढ़ होने पर उपासक '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' की दशा में पहुँचने के लिए समर्थ हो जाता है। जो '**चित्-शक्ति**' इस दशा में स्वयं व्यञ्जित होती है, वह **राज-राजेश्वरी, महा-षोडशी** और **परा-महा-भट्टारिका** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। अतः यह बात ध्यान देने के योग्य है कि **बाला, महा-त्रिपुर-सुन्दरी** और **महा-षोडशी** में कोई आवश्यक भेद नहीं है।

चतुरासन-न्यास

'**आत्मासन, चक्रासन, सर्व-मन्त्रासन**' और '**साध्य-सिद्धासन**'-भेद से '**आसन-न्यास**' चार प्रकार के हैं। पूर्व-कथनानुसार ये '**चार न्यास**'

यथा-क्रम तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ **चक्रेश्वरी** के मन्त्रों से किए जाते हैं। इनका आध्यात्मिक भाव निम्न-लिखित है—

'आत्मासन' **प्रमाता** (ज्ञाता) का, 'चक्रासन' संसार, शरीर और मन से बने हुए **प्रमेय** (ज्ञेय) का, 'सर्व-मन्त्रासन' **प्रमाण** (ज्ञान) का और 'साध्य-सिद्धासन' **प्रकाश** और **विमर्श** के सामरस्य का निर्देश करता है।

'**आसन**' का अर्थ '**चेतना**' है, जो अपनी **सत्ता** (अस्तित्व) से सर्वत्र अभिव्याप्त है। यह '**चेतना**' जीव की सीमा से '**आत्मासन**'-विषयोपाधि से '**चक्रासन**' और प्रमाणोपाधि से '**मन्त्रासन**' के समान मानी गई है। '**साध्य-सिद्धासन**' शुद्ध चैतन्य अथवा किसी भी सीमित अनुबन्ध से रहित '**ब्रह्म**' का आत्मा से **अभिन्न** और **नित्य-सिद्ध** (सर्वदा विद्यमान) '**ब्रह्म**' का निर्देश करता है। मिथ्या '**माया**' अथवा '**अज्ञान**' विचित्र जगत् में निरूपित अपनी '**आवरण-शक्ति**' और '**विक्षेप-शक्ति**' द्वारा '**ब्रह्म**' को आच्छादित किए हुए है। अतएव सर्वदा विद्यमान और स्वयं-प्रकाश '**ब्रह्म**' असत् और अव्यक्त (अप्रकाश) की भाँति विदित होता है, किन्तु जब '**मोक्ष**' की प्रगाढ़ इच्छा करनेवाला उपासक अपनी अद्वैतता के अनुभव से '**ब्रह्म**' को सीधा **आत्मा** से अभिन्न पहिचानता है, तब यह विचार किया जाता है कि वह (**ब्रह्म**) उसे प्राप्त हो गया है और इसके विषय में इस प्रकार कहा गया है, जैसे कोई अपने गले में मोतियों के कण्ठाभरण को वास्तविकता से धारण किए रहने पर भी वह उसे खोया हुआ जानकर यह बात भूल जाता है कि वह उसे पहने हुए है और उसको इधर-उधर ढूँढ़ता है तथा उसके खो जाने से रोने लगता है, किन्तु जब उसका एक मित्र उसके खोए हुए आभरण को उसके गले में दर्शाता है, जो कि वहाँ पर पहले से ही विद्यमान है और पुनः वह अपने हाथ से उसका स्पर्श कर विचार करता है कि मैंने इसे पुनः प्राप्त किया है। इस प्रकार की **पुनः प्राप्ति** (प्रतिपत्ति) '**साध्य-सिद्ध**' कही गई है, अर्थात् '**अनुष्ठित**' का अनुष्ठान अथवा '**प्राप्त**' की प्राप्ति। '**साध्य-सिद्धासन**' की निष्पत्ति (सिद्धि) **सविकल्प समाधि** में होती है, जबकि **ज्ञाता**, **ज्ञान** और **ज्ञेय** का '**त्रिक्**' विलीन हो जाता है अर्थात् इनका (**ज्ञाता**, **ज्ञान** और **ज्ञेय** का) भेद-भाव विनष्ट हो जाता है। यही निम्न-लिखित श्रुति-वाक्य का यथार्थ आशय है—

"ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयानामभेद-भावनं श्रीचक्र-पूजनम्"

(भावनोपनिषद्)

'**प्रमेय**' और '**प्रमाण**'—'**चैतन्य**' और '**शुद्ध चैतन्य**'—यह सब '**मैं स्वयं ही हूँ**'—उपासक की भावना ही '**चतुरासन-न्यास**'-तत्त्व है।

वाग्-देवता-न्यास

वशिनी, कामेश्वरी इत्यादि **आठ वाग-्देवता** सम्पूर्ण शास्त्रों की मूर्तियाँ हैं। उपासक का अपनी '**आत्मा**' से इन आठों का अभेद्य चिन्तन ही '**वाग्-देवता-न्यास**' है।

चक्र-न्यास

(बाह्य और आन्तर)

इस '**न्यास**' में **त्रैलोक्य-मोहन, सर्वाशा-परिपूरक** इत्यादि **नव चक्रों** की **त्रिपुरा, त्रिपुरेश्वरी** इत्यादि **नव-चक्रेश्वरी** और **अणिमादि** तथा **कामाकर्षण्यादि** आवरण-शक्तियाँ शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में पैरों से शिर-पर्यन्त तथा अधस्तन **सहस्त्रार** से उपरितन **सहस्त्रार**-पर्यन्त क्रमशः बाहर और भीतर निवास करती हुई विचारी गई हैं। इस प्रकार के ध्यान से शरीर स्वयं **श्री-चक्र-स्वरूप** है और **आत्मा** चित्-शक्ति है—यह विचार दृढ़ हो जाता है।

कामेश्वर्यादि-न्यास

इस **न्यास** में जिन चार शक्तियों का ध्यान किया जाता है, वे **कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भग-मालिनी** और **महा-त्रिपुर-सुन्दरी** हैं। '**वरिवस्या-रहस्य**' के १.३३ के अनुसार इन शक्तियों में से **महा-त्रिपुर-सुन्दरी** समष्टि शक्ति है और अवशिष्ट तीन शक्तियाँ अर्थात् **कामेश्वरी, वज्रेश्वरी** और **भग-मालिनी** व्यष्टि-शक्तियाँ हैं।

यह '**न्यास**' उपासक की **आत्मा** का सकल जगत् की उत्पादिका **चित्-शक्ति** के साथ सारूप्य (तादात्म्य) का निर्देश करता है।

मूल विद्या-न्यास

'**मूल-मन्त्रात्मिका**', '**मूल-कूट-त्रय-कलेवरा**'—'**ललिता-सहस्त्र-नाम**' के इन दो नामों के अनुसार **श्री-विद्या** का महा-मन्त्र ही **पर-देवता की** मूर्ति है। उपासक के शरीर में मूल-विद्या के **पञ्च-दशाक्षरों** को यथा-क्रम **पञ्चदश स्थानों** में रखने से उपासक का '**शरीर**' ही पर-देवता का **शरीर**

बन जाता है। यह **मातृका-न्यास** के वर्णन में पहले ही कहा जा चुका है। **'वरिवस्या-रहस्य'** के ११ से ६१ तक वर्णित प्रसङ्ग भी यहाँ देखने योग्य हैं।

अङ्ग-न्यास

ऋष्यादि षडङ्ग-न्यास गुरु के उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए। **पञ्चदशी** के उपासकों के लिए इस **न्यास** के अनन्तर **न्यास-विधान** की समाप्ति हो जाती है। **षोडशी** के उपासकों के लिए न्यास का विशेष विधान निम्न-लिखित है—

श्रीषोडशाक्षरी-न्यास

यहाँ **षोडशी** का मन्त्र २८ (अष्टाविंशति) बीजाक्षरों से बना हुआ है। यदि पञ्च-दशाक्षरों से बने हुए **तीन कूट** केवल **तीन अक्षर** माने जाएँ, तो मन्त्राक्षरों का योग षोडश होगा।

महा-षोडशी से यहाँ पर उस दिव्य **चित्-शक्ति** से तात्पर्य है, जो **निदिध्यासन** अथवा **सविकल्प समाधि** के नाम से प्रसिद्ध मनोवृत्तियों की अधिष्ठात्री है। इस **शक्ति** के निम्न-लिखित तीन अभिधान हैं—

१. **दीपाभा**—ज्ञान-प्रकाश-मूर्ति अथवा विमर्श-शक्ति।

२. **स्रवत्-सुधा-रसा** (सहस्र-दल-कमल से आनन्दामृत-रस को बहानेवाली) और—

३. **महा-सौभाग्यदा** (परमानन्द अथवा मोक्ष-दात्री)।

दक्षिण हाथ की मध्यमा और अनामिका से सिर को स्पर्श कर इन स्वरूपों में **'पर-देवता'** का ध्यान करना चाहिए।

''मैं अपने मन से सांसारिक सुखों की अभिलाषाओं को दूर कर दूँगा। हे माता! तुम मेरे लिए कैवल्य-पद को प्रदान करो।''

उक्त मन्त्र से **'सौभाग्य-दायिनी मुद्रा'** द्वारा शरीर का वाम भाग आपाद-मस्तक-पर्यन्त स्पर्श करना चाहिए। यह **'सौभाग्य-दायिनी मुद्रा'** केवल तर्जनी को फैलाकर शेष अँगुलियों को मोड़ देने से बनती है। यह **मुद्रा** आज्ञा का निर्देश करती है। **ज्ञानेन्द्रिय** और **मन** को सांसारिक सुखों की स्वाभाविक अभिलाषा से निवृत्ति का आदेश देना ही इस **'मुद्रा'** के दिखाने का भाव है। वाम भाग में इस **'मुद्रा'** के दर्शाने से यह सूचित होता है कि महा-सौभाग्य की योग्यता के लिए उपासक को अपनी **'मानसिक वृत्ति'** बाह्य दृश्यों से हटाकर अन्तर्मुखी बना देनी चाहिए।

'मैं अपने शत्रुओं को दण्ड दूँगा'—शत्रुओं का तात्पर्य यहाँ पर **'काम-क्रोधादिकों'** से है, जो आत्म-प्राप्ति में बाधा पहुँचाते हैं। ये **'काम-क्रोधादिक'** असुर-सम्पद् भी कहलाते हैं। उक्त मन्त्र से **'रिपु-जिह्वा-मुद्रा'** द्वारा वाम पाद के अधोभाग में स्पर्श करना चाहिए। यह **'मुद्रा'** तर्जनी को सीधी कर निम्न-लिखित प्रकार से की जाती है—

वाम हस्त की तर्जनी को सीधी कर अंगुष्ठ को नीचे मोड़ देना चाहिए।

इस **'मुद्रा'** से यह प्रदर्शन किया जाता है कि उपासक के शत्रुओं की जिह्वाएँ उसके (उपासक के) वाम पाद के नीचे हैं। इससे शत्रुओं के ऊपर विजय सूचित की जाती है अर्थात् विनाश-कारी सम्पूर्ण **मानसिक विकारों** का उच्छेदन और इसी के फल-स्वरूप **अपवित्र मन का विनाश** भी सूचित किया जाता है।

''मैं त्रिलोकी का कर्ता हूँ''—तीनों जगत्—**पृथ्वी, अन्तरिक्ष** और **स्वर्ग** मेरे ही मन की उपज हैं। अतएव मैं ही उनका स्वामी हूँ।

''मय्येव सकलं जातं, मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् मयि सर्वं लयं याति।''

वे मुझसे पैदा हुए हैं और मुझमें हैं। मैं उनका कारण हूँ और वे मुझसे भिन्न नहीं हैं—इस प्रकार कहकर उपासक को **'त्रिखण्डा-मुद्रा'** से अपने **मस्तिष्क** को स्पर्श करना चाहिए। **'त्रिखण्डा-मुद्रा'** द्वारा उपासक अनुभव करता है कि **'प्रमाता, प्रमाण'** और **'प्रमेय'** के **'त्रिक्'** से बना हुआ सम्पूर्ण जगत् **अखण्ड** के ऊपर केवल **अध्यास** है। यदि **'नाम'** और **'रूप'** के भेद निर्गलित हो जाएँ, तो **'अखण्डाकार-वृत्ति'** अथवा वह अवस्था, जिसमें **'त्रिपुटी'** का अनुभव नहीं होता, प्राप्त हो जाएगी। इस **'मुद्रा'** का उद्देश्य यह है कि **'त्रिपुटी'** की विद्यमानता में भी उससे रहित वास्तविक अवस्था का अनुभव करें।

इसके अनन्तर उपासक को अपने शरीर के अन्य भागों का स्पर्श **'मूल-मन्त्र'** के साथ **'त्रिखण्डा-मुद्रा'** से करना चाहिए। तदनन्तर **'मूल-मन्त्र'** के साथ **'योनि-मुद्रा'** से मुख और मस्तिष्क का भी स्पर्श करना चाहिए। यह **'मुद्रा'** प्रकाश और विमर्श के सामरस्य का निर्देश करती है। यह **'सामरस्य'** समाधि की अवस्था का द्योतक है, जब कि **'ब्रह्म'** और **'आत्मा'** की एकता का अनुभव होता है।

सम्पूर्णस्य प्रकाशस्य, लाभ-भूमिरियं पुनः।
योनि-मुद्रा कला-रूपा, सर्वानन्द-मये स्थिता॥

(योगिनी-हृदय, ६/७१)

सम्मोहन-न्यास

'**श्रीविद्या**' के '**मन्त्रार्थ**' का विचार कर तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् को उसकी (**श्रीविद्या की**) कान्ति से **रक्त-वर्ण-रञ्जित** जानकर उपासक को अपनी अनामिका अँगुली तीन बार शिर के ऊपर घुमानी चाहिए और तदनन्तर अनामिका और अंगुष्ठ से अपने मस्तिष्क आदि का स्पर्श कर पुनः '**शाक्त तिलक**' धारण करना चाहिए।

'**भावनोपनिषद्**' में भी कहा गया है कि '**लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः**' अर्थात् **विमर्श-शक्ति पर-देवता** का वर्ण (रङ्ग) एक है। यह रङ्ग '**अनुराग**' (प्रेम) का द्योतक है। आत्मा की वास्तविक प्रकृति के जानने की दृढ़ कामना ही '**अनुराग**' है—

'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

(वृहदारण्यक, ४.५.६)

'आत्म-लाभान्न परं विद्यते।'

(आपस्तम्ब धर्म-सूत्र, १.८.२)

'**आत्मा**' समस्त जगत् का आधार तथा अधिष्ठान है। अधिष्ठान पर दृष्टि डालने से संसार **रक्त-वर्ण** की भाँति विदित होता है। जब यह आवेक्षण (दृष्टि) दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो जाता है, तब यह संसार '**नाम**' और '**रूप**' के भेद के साथ उपासक के निग्रह में आ जाता है अर्थात् वह अनुभव करने में समर्थ होता है कि संसार उसकी शक्ति के अधीन है। अतः यह ठीक दिखता है कि इस न्यास का नाम '**सम्मोहन-न्यास**' है क्योंकि स्त्री के समान यह संसार इस '**न्यास**' से मोहित कर दिया जाता है। अर्थात् जिस प्रकार कोई '**वशीकरण-प्रयोग**' स्त्री को मोह लेता है, उसी प्रकार यह '**न्यास**' भी संसार के ऊपर अपना प्रभाव डाल कर उसे वश में कर लेता है और इस संसार को उपासक की इच्छा के अधीन कर देता है।

शाक्त-तिलक—जिस प्रकार पवित्र '**विभूति**' अखण्डाकार अग्नि द्वारा '**नाम-रूप-मय जगत्**' को भस्म करने के अनन्तर '**सच्चिदानन्द-अवस्था**' को निरूपित करती है, उसी प्रकार '**शाक्त-तिलक**' अथवा '**कुमकुम**' (केसर)

मन की '**अखण्डाकार-वृत्ति**' अथवा '**ज्ञान-दृष्टि**' के द्वारा भेद-भाव के विचारों का निराकरण करनेवाली '**विमर्श-रूपिणी चित्-शक्ति**' का निरूपण करता है। अतएव यह '**शाक्त-तिलक**' ज्ञान-दृष्टि का व्यञ्जक है।

संहार-सृष्टि-स्थिति-न्यास

इन न्यासों में '**षोडशी-मन्त्र**' के १६ (षोडश) अक्षरों से शरीर के षोडश भागों का स्पर्श किया जाता है अर्थात् **१६ अक्षर** सोलह स्थानों में स्थापित किए जाते हैं और पुन: पूर्ण मन्त्र से पूरे शरीर पर '**व्यापक न्यास**' किया जाता है। '**ब्रह्म-विद्या**' अथवा अद्वैतता का अविचल ध्यान करने से उपासक '**अविद्या**' अथवा '**अज्ञान**' का **संहार** (नाश), **आनन्द की सृष्टि** और **जीवन-मुक्ति की स्थिति** करने में समर्थ होता है।

अन्य न्यास

अब तक '**श्रीविद्या-सपर्या-पद्धति**' में उल्लिखित न्यासों पर विचार किया गया है। इसके अनन्तर दूसरी पद्धतियों में लिखित न्यासों के विषय में विचार किया जाता है।

लघु षोढा-न्यास

यह कहा गया है कि '**गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि**' और '**पीठ**' '**पर-देवता**' के ही रूप हैं। यथा—

गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-रूपिणीम्।
देवीं मन्त्र-मयीं नौमि, मातृका-पीठ-रूपिणीम्॥

(नित्या-षोडशिकार्णव)

अतएव उपासक को उपरि-कथित '**गणेशादि षड्-न्यास**' करने आवश्यक होते हैं, जिससे **उपासक** और **चित्-शक्ति** की एकता का भाव उपासक के मन में दृढ़ता के साथ स्थित हो जाए। **गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि** और '**पीठ**'—ये '**षड्-न्यास**' ही '**लघु षोढा-न्यास**' के नाम से कहे जाते हैं।

महा-षोढा-न्यास

'**प्रपञ्च, भुवन, मूर्ति, मन्त्र, देवता**' और '**मातृका**'—इन '**षड्-न्यासों**' के समुदाय को '**महा-षोढा-न्यास**' कहते हैं।

'**महा-षोढा**' और '**लघु-षोढा**'—दोनों न्यासों के लिए '**मातृका-न्यास**' नितान्त आवश्यक है। पूर्व-वर्णित '**अन्तर्मातृका**' तथा '**बहिर्मातृका-न्यास**' और '**महा-षोढान्तर्गत मातृका-न्यास**' में बहुत अन्तर है।

'**समय, स्थान**' और '**उद्देश्य**' में पृथक्ता के भाव को पैदा करनेवाली '**चित्-शक्ति**' के ऊपर '**पीठ, भुवन, ग्रह, नक्षत्र, प्रपञ्च, ऋषि, गणेश, योगिनी, मूर्ति, मन्त्र, देवता**' और '**मातृका**' के भावों के अध्यासों से छुटकारा पाना और उनके पीछे छिपी हुई वास्तविकता को पाना अर्थात् '**चित्-शक्ति**' को अपने से भिन्न न समझना '**लघु षोढा-न्यास**' और '**महा-षोढा-न्यास**' का वास्तविक अर्थ है।

इस प्रकार अन्य बहुत से '**न्यास**' भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित पाए जाते हैं, किन्तु उन सब '**न्यासों**' का तात्पर्य एक ही है। जिस प्रकार मनुष्यों के मन भिन्न-भिन्न वृत्तिवाले हैं, उसी प्रकार '**न्यास**' भी भिन्न-भिन्न प्रकार के मानव-स्वभाव के अनुकूल भिन्न-भिन्न विधि से लिखे गए हैं, जिससे प्रत्येक उपासक अपनी रुचि के अनुसार '**न्यास**' प्रयत्न-पूर्वक ग्रहण कर सके तथा वे उसके (उपासक के) '**अखण्ड ध्यान**' के जनक हो सकें, अर्थात् उसके '**अखण्ड ध्यान**' लगाने में पूर्णतया सहायक बन सकें।

❀ ❀

तृतीय खण्ड का सार

न्यास	वासना
१. मातृका-न्यास	**बाह्य**—इस बात का विचार करना कि '**चित्-शक्ति**' का शरीर '**मातृकाओं**' से बना हुआ है। **आन्तर**—'**चित्-शक्ति**' ही उपासक की '**आत्मा**' है, जो शरीर के आठ स्थानों में आठ मूर्तियों के रूप में विराजमान है।
२. कर-शुद्धि-न्यास	संसार के '**अध्यास**' अथवा '**कार्योपाधि**' का निराकरण।
३. आत्म-रक्षा-न्यास और बाला-षडङ्ग-न्यास	पारस्परिक '**मिथ्या आरोप**'। (अन्योन्याध्यास) का निराकरण।

न्यास	वासना
४. आत्मासान, चक्रासन, सर्व-मन्त्रासन साध्य-सिद्धासन न्यास	'प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, चेतन'—उपाधियों का निराकरण और 'शुद्ध-चेतना' के साथ एकता का सम्पादन।
५. अन्तश्चक्र-न्यास और बहिश्चक्र-न्यास	यह भावना कि 'शरीर' ही 'श्री-चक्र' है।
६. कामेश्वर्यादि न्यास	यह विचार कि 'विश्व' की कारण 'चित्-शक्ति' ही 'आत्मा' है।
७. मूल-विद्या-न्यास	'पर-देवता' के स्वरूप की प्राप्ति।
८. लघु-षोढा व महा-षोढा-न्यास	उपासक का यह विचार कि वह संसार से भिन्न नहीं है।
९. षोडशाक्षरी-न्यास	आत्म-ध्यान (आत्म-विचार)।
१०. सम्मोहन न्यास	संसार का निग्रह करना।
११. संहार-सृष्टि-स्थिति-न्यास	अज्ञान का (अविद्या का) विनाश, आनन्द की सृष्टि और जीवन-मुक्ति की स्थिति।

मुद्राएँ

१. सौभाग्य-दण्डिनी मुद्रा	मनो-निग्रह।
२. रिपु-जिह्वाग्र-मुद्रा	अनात्म-विचारों का उन्मूलन।
३. त्रिखण्डा-मुद्रा	'त्रिपुटी' का शोधन, उद्धार।
४. योनि-मुद्रा	शिव-शक्ति-सामरस्य।
५. शाक्त-तिलक	ज्ञान-दृष्टि।

चतुर्थ खण्ड

पात्रासादन

'**पात्रा-सादन**' का अर्थ है '**पूजा**' के '**पात्रों**' का यथा-क्रम विन्यास (स्थापन) करना। '**वर्धनी कलश**' अथवा '**तीर्थ-पात्र, सामान्यार्घ्य-पात्र, शुद्धि-पात्र, गुरु-पात्र, आत्म-पात्र**' और '**बलि-पात्र**' इत्यादि **भाजन** (पात्र) पूजा के लिए आवश्यक हैं। यह '**खण्ड**' **सपर्या-पात्रों** का '**संस्कार, अभिमन्त्रण**' और क्रम-पूर्वक '**स्थापन**' तथा उनके (**पात्रों के**) '**आध्यात्मिक अर्थ**' का वर्णन करता है।

'वर्धनी-कलश' अथवा 'तीर्थ-पात्र'

प्रत्येक प्रकार की पूजा के लिए '**जल**' की आवश्यकता अपरिहार्य होती है। '**कर्म-काण्ड**' का विधान है कि पूजा-समय में यदि '**मन**' अपनी एकाग्रता को त्याग कर दूसरे विचारों की ओर दौड़ता है, तो '**उपासक**' को '**जल**' स्पर्श कर मुख से '**मन्त्रोच्चारण**' करना चाहिए। अतः यह बात स्पष्ट है कि '**जल**' से यहाँ एक सूक्ष्म विचार का उपदेश प्राप्त होता है। '**आप, जल, नार, उदक**' और '**तीर्थ**'—ये सब शब्द पर्याय-वाची हैं—

"**आपो वा इदं सर्वम्। सम्राडापो, विराडापः, स्वराडापः, सत्यमाप, आप ॐ।**"

"**नारं विज्ञानं, तत् अयनम, आश्रयो यस्य सः नारायणः।**"

"**आपो वा अग्नेरायतनं**" इत्यादि

"**आपो वै संवत्सरस्यायतनं**" इत्यन्ता श्रुतिः।

"**सर्वं पुनन्तु मामापो, असतां च प्रतिग्रहं स्वाहा**"

"**ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म।**"

ऊपर की श्रुतियों से यह बात स्फुट है कि यहाँ '**जल**' का अर्थ '**ज्ञान**' है। जब तक '**जल**' की व्याख्या '**ज्ञान**' न की जाएगी, तब तक उपर्युक्त वाक्यों के अर्थ की सङ्गति लगाना असम्भव है। जिस प्रकार श्रुति कहती है कि '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (यह सब ब्रह्म है), उसी प्रकार श्रुति कहती है कि '**आपो वा**

इदं सर्वम्' (यह सब जल है)। **विराट्, सम्राट्** (हिरण्य-गर्भ), **स्वराट्** (सूत्रात्मन्), **सत्य** और **ईश्वर**, जो कि '**प्रणव**' से निर्दिष्ट किए गए हैं, सब '**जल-स्वरूप**' हैं। यहाँ पर '**जल**' शब्द का '**ज्ञान**' के अतिरिक्त दूसरा कौन-सा उचित अर्थ किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त '**प्रलय-काल में परमात्मा जल के भीतर सो जाते हैं**'—यह पौराणिक कथन भी इस भाव के ऊपर ही आश्रित है।

अतएव हमारे पूजा-रूप '**अध्यात्म-यज्ञ**' के लिए '**ज्ञान का जल**' नितान्त आवश्यक है। व्यावहारिक सत्ता से युक्त यह विश्व (संसार) ही '**वर्धनी कलश**' है। त्रि-मूर्तियों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) का स्वरूप इस '**कलश**' का स्वरूप है। इसकी (**कलश** की) '**कुक्षि**' में '**सप्त समुद्र, सप्त द्वीप**' और '**सप्त मातृकाएँ**' तथा इसके '**तीर्थ**' में '**चार वेद, छः वेदाङ्ग, स्मृतियाँ, पुराण, उप-पुराण**' और '**शास्त्र**' निवास करते हैं। यह सब निम्न-लिखित पद्यों में वर्णित है—

कलशस्य मुखे विष्णुः, कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा, मध्ये मातृ-गणः स्मृतः॥ इत्यादि

'**अपर ज्ञान**'—'**वेद, वेदाङ्ग**' इत्यादि '**अपरा विद्या**' हैं। '**वर्धनी कलश**' का जल, जिसमें '**वेद**' और '**वेदाङ्ग**' हैं, '**अपर ज्ञान**' है। इस संसार का और इसके कारण परमेश्वर का परोक्ष ज्ञान '**अपर ज्ञान**' है। यह '**वर्धनी कलश**' एक ओर '**कर्म और उपासना**' का और दूसरी ओर '**ज्ञान और कार्य-कारण**' का सम्बन्ध निर्देश करता है। '**वर्धनी कलश**' के भीतर जल की मूर्ति में विद्यमान '**अपर ज्ञान**' की प्रकृति के विषय में अब गवेषणा की जाती है। '**अपर ज्ञान**' की प्रकृति में निम्न-लिखित **जीव-जगत्** और **ईश्वर का ज्ञान** समाविष्ट (परिगणित) है।

१. जीव-ज्ञान—ईश्वरीय नियमों का पालन करना मनुष्य का आवश्यकीय कर्तव्य है। इस धारणा से तथा किसी '**कर्म**' के '**फल-भोग**' की अभिलाषा के बिना '**कर्म-काण्ड**' के अनुसार समस्त कर्मों के करने से जीव के '**चित्**' की शुद्धि हो जाती है और जन्मान्तर में कर्मानुसार भले और बुरे '**कर्म-फलों**' का उपभोग कर इस संसार में वह (उपासक) पुनः पैदा हुआ है।

२. जगत्-ज्ञान—यह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानने योग्य (ज्ञेय) है तथा अपने आप '**कर्म**' करनेवाले और इनके फलों को भोगनेवाले '**जीव**' की उपभोग्य वस्तु है।

३. **ईश्वर-ज्ञान**—एक **सर्वज्ञ प्राणी** है, जो इस जगत् का कारण है तथा जीवों को उनके भले और बुरे कर्मों के अनुसार यथोचित पुरस्कार अथवा दण्ड प्रदान करता है। इसी प्रकार उपासक भी '**उपासना-काण्ड**' में निर्दिष्ट क्रमानुसार देवता के स्वरूप और गुणों के ध्यान की दृढ़ता से '**मन की एकाग्रता**' तथा '**देवता के साक्षात् दर्शन**' को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार '**अपर ज्ञान**' वह ज्ञान है, जो '**चित्-शुद्धि**' का सम्पादक और '**मन के भ्रम**' का विनाशक है। इस प्रकार के '**अपर ज्ञान**' और '**पर-ज्ञान**' के बीच में क्या सम्बन्ध है, इसका उत्तर निम्न-लिखित है—

ऊपर दिए गए '**अपर ज्ञान**' के विश्लेषण से यह देखा जाएगा कि यह '**सत्य**' और '**अमृत**' का एक अध:-प्रदर्शित प्रकार का सम्मिश्रण है। '**यह संसार है**'—यह '**अपर ज्ञान**' है। यहाँ '**यह**' शब्द '**विश्व-ज्ञान**' (सार्वलौकिक ज्ञान) को व्यक्त करता है, जो सबके लिए **साधारण आधार** का काम देता है। '**संसार**'-शब्द '**नाम**' और '**रूप**' के विभेदों के साथ किसी वस्तु को प्रकट करता है। उसके पाँच भाग हैं—**१. सत्ता (सत्), २. ज्ञान (चित्), ३. आनन्द, ४. नाम** और **५. रूप**। इन भागों में से प्रथम तीन भाग, जो **सच्चिदानन्द** के अनुरूप हैं, '**सत्य**' है और अवशिष्ट दो भाग '**असत्य**' हैं। इस प्रकार '**यह संसार है**' —इस प्रकार के '**अपर ज्ञान**' में '**सत्य**' और '**अनृत**' का सम्मिश्रण है अर्थात् '**सत्य**' और '**झूठ**' मिले हुए हैं। दूसरी ओर '**यह सच्चिदानन्द शिव है**'—इस प्रकार का '**पर-ज्ञान**' नितान्त सत्य है। '**यह नाम-रूप-मय जगत् है**'—इस प्रकार का '**अपर ज्ञान**' और '**यह सच्चिदानन्द शिव है**'—इस '**पर-ज्ञान**' के बीच में एक प्रकार का सम्बन्ध पाया गया है कि यह सम्बन्ध '**मायिक**' (मिथ्या) है।

इसके अनुसार महात्माओं ने यह निर्धारित किया है कि '**वर्धनी कलश**' का '**जल**' '**अपर-ज्ञान**' है। **सामान्यार्घ्य (शङ्ख)** का '**जल**' '**इदन्ता का ज्ञान**' तथा '**विज्ञान**' है, जो इस दृश्य जगत् के **मायिक** (मिथ्या) नाम और रूपों के निराकरण करने पर अवशिष्ट रह जाता है। '**विशेषार्घ्य**' विशेष ज्ञान है। यह ज्ञान कि '**वह स्वयं शिव है**' तथा यह विशेष ज्ञान विमर्श '**चित्-शक्ति**' से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है और इस ज्ञान की प्राप्ति उपरि-निर्दिष्ट '**इदन्ता**' को '**आत्मा**' में विलीन करने से होती है तथा विमर्श '**चित्-शक्ति**' से मानसिक शुद्धि प्राप्त होती है। यह एक बड़ा भारी रहस्य है।

सामान्यार्घ्य और विशेषार्घ्य पात्र

पिछले पृष्ठों पर प्रायः यह वर्णन किया गया है कि '**ज्ञान–यज्ञ**' (पर–देवता की पूजा) के स्वरूप में '**मनन, निदिध्यासन**' और '**समाधि**' का सार है। शास्त्रों का कथन है कि '**माया**' और '**अविद्या**' के मूल कारण मिथ्या '**अध्यासों**' को दूर करने से '**अधिष्ठान–सत्ता**' के ज्ञान की प्राप्ति '**समाधि**' कहलाती है और '**मनन**' तथा '**निदिध्यासन**' उस प्राप्त '**अधिष्ठान–सत्ता**' के ज्ञान की प्राप्ति के द्वार (कारण) हैं। अतएव '**अध्यास**' के स्वरूप में सम्पूर्ण अनर्थों का निराकरण और '**अधिष्ठान–सत्ता**' के ज्ञान '**आनन्द**' की प्राप्ति ही इस '**सपर्या**' में '**सामान्यार्घ्य**' और '**विशेषार्घ्य**' का तात्पर्य है। '**भावनोपनिषद्**' कहता है कि '**ज्ञान अर्घ्य**' है—**ज्ञानमर्घ्यम्**। '**अर्घ्य**' का अर्थ वह वस्तु है, जो पूजा के योग्य हो और '**ज्ञान**' ही केवल ऐसी वस्तु है, जो पूजा के योग्य हो सकती है। इससे '**सामान्यार्घ्य**' सामान्य ज्ञान और '**विशेषार्घ्य**' विशेष ज्ञान हुआ। ये दो यथार्थ ज्ञान '**शुद्ध मन**' में ही स्फुरित हो सकते हैं। अपवित्र मन से '**मायिक**' (मिथ्या) प्रकृतिवाला '**अविद्या**' की '**विक्षेप–शक्ति**' द्वारा संस्थापित '**विशेष ज्ञान**' पैदा होगा।

'**यह शिव है**'—यह यथार्थ '**विशेष ज्ञान**' है। यह ज्ञान केवल '**शुद्ध चित्**' में ही उत्पन्न होगा। '**यह संसार है**'—यह '**अयथार्थ विशेष ज्ञान**' है और यह ज्ञान '**अपवित्र मन**' में ही पैदा होता है। '**यह**' शब्द से सूचित '**सामान्य ज्ञान**' का अनुभव '**पवित्र**' और '**अपवित्र**' दोनों प्रकार के मनों में होगा। इस प्रकार के '**ज्ञान**' को '**सत्ता सामान्य ज्ञान**' भी कहते हैं। अतः इस '**इदन्ता–स्फुरण**' के लिए '**मन**' बहुत आवश्यक है। जहाँ कहीं '**मन**' है, वहाँ '**सामान्य ज्ञान**' और '**अयथार्थ विशेष ज्ञान**' अथवा '**यथार्थ विशेष ज्ञान**' अवश्य है।

'**सुषुप्ति**'–अवस्था में '**मन**' अपने व्यापार में नहीं होता है। अतएव उक्त ज्ञान–प्रकारों में से कोई भी '**प्रकार**' उपस्थित नहीं रहता। '**जागृति**' और '**स्वप्नावस्था**' में '**मन**' अपवित्र रहता है। अतएव '**मन**' में '**अयथार्थ विशेष ज्ञान**' का स्फुरण होता है। '**तुरीयावस्था**' में '**मन**' शुद्ध रहने से '**यथार्थ विशेष ज्ञान**' होता है। यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि यथार्थ (वास्तविक सत्य) केवल '**चित्–शक्ति**' है तथा '**ब्रह्म**' और '**अयथार्थ**' (कल्पित), जो पदार्थ की **व्यावहारिक** (**दृष्टि–विषयक**) अथवा '**प्रतिभासिक**' स्थिति में विद्यमान हैं, वे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हैं।

मण्डल-निर्माण (आकृति का निर्माण)—'**मन**' ही '**सामान्य**' और '**विशेषार्घ्य**' का '**मण्डल**' है। पद्धति के अनुसार '**सामान्य**' और '**विशेषार्घ्य**' का रूप पाँच आकृतियों की संरचना है, जो '**बिन्दु, त्रिकोण, षट्-कोण, वृत्त**' तथा '**चतुरस्त्र**' हैं। यह '**मण्डल**' वर्धनी कलश के जल से '**मत्स्य-मुद्रा**' द्वारा निर्मित किया जाता है। पाँच भिन्न-भिन्न आकारों के संयोग से बना हुआ '**मण्डल**' मन का निरूपण किस प्रकार करता है, यह पहले उल्लेख किया जा चुका है कि '**मन**' **पञ्च-भूतों के पाँच सत्त्वांशों** से बना हुआ है और '**मण्डल**' की पाँच आकृतियाँ '**मन**' के **पाँच कार्य-विभागों** को निम्न-लिखित प्रकार से निर्देशित करती हैं—

१. **बिन्दु**—आकाश का सत्त्वांश है, जिसे '**हृदय**' कहते हैं।

२. **त्रिकोण**—अग्नि का सत्त्वांश है, जिसे '**बुद्धि**' कहते हैं।

३. **षट्-कोण**—वायु का सत्त्वांश है, जिसे '**मन**' कहते हैं।

४. **वृत्त**—जल का सत्त्वांश है, जिसे '**चित्**' कहते हैं।

५. **चतुरस्त्र**—पृथ्वी का सत्त्वांश है, जिसे '**अहङ्कार**' कहते हैं।

इस प्रकार '**मण्डल**' निस्सन्देह पूर्णतया '**मन**' का निरूपण करता है।

मत्स्य-मुद्रा—दाहिनी हाथ की हथेली को सीधे नीचे की ओर कर, बाँएँ हाथ को भी उसी प्रकार ठीक उसके ऊपर रख देना चाहिए। दोनों अंगुष्ठ एक दूसरे के सामने मछली के पर के समान हिलते हुए रहें तथा नीचे की अनामिका के अतिरिक्त (जिससे मन्त्र लिखा जाता है), शेष अँगुलियों का दृढ़ता से मिला रहना '**मत्स्य-मुद्रा**' कहलाती है। यह '**मुद्रा**' मन और ज्ञानेन्द्रियों का निरूपण करती है। यही '**मत्स्य-मुद्रा**' का वास्तविक अर्थ है, जो '**तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश**' के निम्न-लिखित पद्य से प्रकट होता है—

मन आदीन्द्रियगणं, संयम्यात्मनि योजयेत्।
स मीनाशी भवेद् देवि! इतरे प्राणि-हिंसकाः॥

'**सामान्य ज्ञान**' और '**विशेष ज्ञान**' केवल '**मन**' में ही स्फुरित होंगे। यह अनुभव भी केवल मानसिक वृत्तियों से (मानसिक विशेषता से) उत्पन्न हो सकता है। यह इस आशय को सूचित करने के लिए है कि '**मण्डल**' मत्स्य-मुद्रा द्वारा बनाया जाना चाहिए।

'**सामान्य**' एवं '**विशेषार्घ्य**' केवल जीव के प्रतीक हैं। यह एक अत्यन्त गोपनीय अर्थ है। प्रत्येक '**अर्घ्य**' के तीन भाग होते हैं—**१. अमृत, २. पात्र**

और ३. **पात्र का आधार।** ये ही क्रमशः '**सोम**' अथवा '**चन्द्र**', '**सूर्य**' एवं '**अग्नि-मण्डल**' के प्रतिनिधि हैं। '**जीव**' का शरीर भी इन तीन मण्डलों से बना हुआ है। **पञ्चदशी विद्या, काम-कला** और **श्रीचक्र** इत्यादि **सोम, सूर्य** और **अग्नि-मण्डलों** से बने हुए हैं। निम्न-लिखित तालिका उपर्युक्त विषय की विशद व्याख्या कर देती है—

त्रिक् तालिका

	अग्नि-मण्डल	**सूर्य-मण्डल**	**सोम-मण्डल**
१. अर्घ्य	आधार	पात्र	अमृत
२. शरीर	मूलाधार स्वाधिष्ठान	मणिपूरक अनाहत	विशुद्धि आज्ञा
३. काम-कला	रक्त बिन्दु	मिश्र बिन्दु	शुक्ल बिन्दु
४. बीज	ऐं	क्लीं	सौः
५. प्रणव	अम्	उम्	मम्
६. महा-विद्या	प्रथम कूट	द्वितीय कूट	तृतीय कूट
७. चक्र	त्रिकोण, अष्ट-कोण	दशार-द्वय चतुर्दशार	अष्ट-दल, षोडश- दल, चतुरस्र
८. अन्तःकरण	बुद्धि	अहङ्कार, चित्	मन
९. त्रिपुटी	प्रमाण	प्रमाता	प्रमेय
१०. त्रि-वर्ग	धर्म	अर्थ	काम
११. प्रपञ्च	इदन्ता-ज्ञान	अयथार्थ (विशेष ज्ञान)	सुख-दुःख
१२. मातृका	य-क्ष (१०)	क-भ (२४)	अ-अः (१६)
१३. कलश	१०	१२	१६
१४. वाक्	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी
१५. ग्रन्थियाँ	ब्रह्म-ग्रन्थि	विष्णु-ग्रन्थि	रुद्र-ग्रन्थि
१६. त्रिमूर्ति	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र
१७. कृत्य (कार्य)	सृष्टि	स्थिति	संहार

इस प्रकार समस्त '**त्रिक्**' उक्त वर्गीकरण में सम्मिलित किए जा सकते हैं। उपासक को बिना किसी संशय और भ्रम के इस विषय पर ध्यान देना चाहिए कि इन सब **भावना** (वासना, कल्पना) की अधिष्ठान-सत्ता

सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी '**चित्-शक्ति**' है। यह पारमार्थिक ज्ञान अथवा '**ब्रह्म-विद्या**' ही '**अर्घ्य**' का मुख्यार्थ (विशिष्टार्थ) है।

जिस प्रकार सच्चिदानन्द कूटस्थ '**चित्-शक्ति**' में मिथ्या अध्यास द्वारा '**जीव**' की **व्यापकता** (व्यक्ति) अस्तित्व को प्राप्त हुई, इसी प्रकार तीन वस्तुएँ भी अस्तित्व में आईं अर्थात् **धर्म, अर्थ** और **काम** उसी '**चित्-शक्ति**' से पैदा हुए। उसी मिथ्या अध्यास द्वारा '**सत्य**' से **धर्म**, '**चित्**' से **अर्थ** और '**आनन्द**' से **काम** पैदा हुआ है। इस '**त्रिवर्ग**' (धर्म, अर्थ, काम) से मुक्त होने का नाम ही '**अपवर्ग**' अथवा '**मोक्ष**' है। अतएव '**धर्म-रूप अग्नि-मण्डल**' सामान्य और विशेषार्घ्य का आधार है। पाठकों को यहाँ पर याग-मन्दिर-प्रवेशान्तर्गत ५५ वें पृष्ठ का प्रसङ्ग देख लेना चाहिए। वहाँ यह लिखा गया है कि '**मोक्ष का द्वार**' धर्म है और '**धर्म**' में प्रतिष्ठित पुरुष ही केवल '**ज्ञान-यज्ञ**' का अधिकारी है।

यदि उपासक का '**शरीर**' ही '**अर्घ्य-पात्र**' माना जाए, तो उसके (उपासक के) शरीर का मूलाधार '**अग्नि-मण्डल**' अथवा आधार है। यह स्वयं **धर्म** है और **यह धर्म** अदृष्ट है, अर्थात् इन्द्रियों से इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इस अदृष्ट-रूपी **कोष** को '**जीव**' ने जन्म-जन्मान्तरों से सञ्चित किया है। यह '**धर्म**' वह काष्ठ है, जिसके साथ '**अग्नि-मण्डल**' सर्वदा चमकीली ज्वालाओं से जलता रहता है। इस '**जीव-शक्ति**' (कुण्डलिनी) के सामर्थ्य द्वारा '**जीव**' बाह्य दृष्टि के साथ इस '**बाह्य जगत्**' का उपभोग करने के लिए समर्थ हो जाता है। इस उपभोग के लिए '**शरीर**' और '**मन**' दोनों बहुत आवश्यक हैं। इसलिए शरीर के संसर्ग (संयोग) के साथ '**मन**' पात्र है और संसार के विषयों का '**उपभोग**' अर्थात् विषयानुभव '**अमृत**' है। '**पात्र**' सूर्य-मण्डल है और '**अमृत**' चन्द्र-मण्डल है।

जीव के लिए इहामुत्र '**फल-भोग**' (यहाँ अथवा परलोक में स्व-कर्म-फलों का उपभोग) ही '**अमृत**' है। इहामुत्र फल-भोग-रूपी '**अमृत**' का स्वभाव कुछ सुख और कुछ दुःख है। इनके उपभोग करने के लिए '**मन**' नितान्त आवश्यक है, किन्तु इन्द्रियों द्वारा अनुभव के सुख से इस प्रकार का '**उपभोग**' विभिन्न आधार पर अवलम्बित रहता है। पिछले सुखों क उपभोग सामान्य मनोवृत्तियों का परिणाम-स्वरूप है और प्रथम सुख का अनुभव केवल संविन्मात्र के प्रकाश से ही होता है क्योंकि '**मन**' अपने आप सुख और

दु:ख में रूपान्तर का अनुभव करता है और वहाँ '**इन्द्रिय-विषयों का उपभोग**' नहीं है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि केवल '**मन**' ही '**अमृत**' है और इसका उपभोग '**जीव**' करता है। '**अधि-देवता**' के निवास की दृष्टि से यह कहा गया है कि '**मन**' चन्द्र-मण्डल है क्योंकि शास्त्रों के अनुसार '**चन्द्रमा**' मन का अधि-देवता है और '**मन**' ही अन्तःकरण का कार्य-सम्पादक भाग है। यह '**चन्द्रमा**' भूत-चन्द्र है, जो षोडश-दल-वाले '**विशुद्धि चक्र**' में निवास करता है। उस '**चन्द्र-मण्डल**' का प्रभाव '**आज्ञा-चक्र**'-पर्यन्त फैला हुआ है और यहीं पर सुख और दु:ख के भावों का अनुभव होता है।

'**पर-देवता-सपर्या**' नामक इस '**ज्ञान-यज्ञ**' का मुख्य आशय '**जीव-भाव**' का निराकरण करना है, जो (जीव-भाव) '**जीव**' के इस अनुभव का उत्तरदायी है कि वह सुख और दु:ख का भोक्ता है। अत: उपासक को नित्य परिवर्तन-शील **अवज्ञान** (निन्दित) चन्द्र-मण्डल से प्राप्त '**अमृत**' के उपभोग का अतिक्रम करने का और सदा अपरिवर्तन-शील (एक-रस) '**नित्य-चन्द्र**' (ज्ञान-चन्द्र) के '**आनन्दामृत**' को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस आनन्द का भी अनुभव '**आज्ञा-चक्र**' में होता है अर्थात् '**शुद्ध सत्त्व**' की अधिकता धारण करनेवाला '**मन**' अमृत है अथवा आनन्दानुभव है, यही अत्यन्त गूढ़ और अखण्डनीय सिद्धान्त है।

यदि '**जीव**' सुख और दु:ख का पार पा जाता है अर्थात् इन्हें जीत लेता है, तो '**त्रिपुटी**' के कारण उत्पन्न हुई '**भेद-भावना**' भी विनष्ट हो जाती है तथा '**भेद-भावना**' का विनाश होने पर '**नाम**' और '**रूप**' का अनुभव भी विलीन हो जाता है एवं '**नाम**' और '**रूप**' के विलय से सन्तत अभेद-चिन्तन **(अखण्डाकार-वृत्ति)** प्रारम्भ हो जाता है। यह '**सच्चिदानन्द का सर्वदा ध्यान करना**' ही '**अमृत**' है। यह अविनश्वर और अविच्छिन्न '**आनन्द**' है। अत: '**परमाद्वैत-भावना**' ही अमृत है।

परमामृत-वर्षेण, प्लावयन्तं चराचरम्।
सञ्चिन्त्य परम-द्वैत-भावनामृत-सेवया।
मोदमानो विस्मृतान्य-विकल्प-विभव-भ्रमः॥

अध्यारोपित अयथार्थ विशेष ज्ञान के दूर होने पर **विश्व-सत्ता का ज्ञान** (सत्ता-सामान्य ज्ञान) जो अवशिष्ट रह जाता है, वह '**सामान्यार्घ्यामृत**' है और इसके विपरीत यथार्थ विशेष ज्ञान '**विशेषार्घ्यामृत**' है। सामान्य ज्ञान

'यह' और **'मैं'** के भेद से दो प्रकार का है। ये दोनों प्रकार क्रमशः **'इदन्ता'** और **'अहन्ता'** के द्योतक हैं। **'मैं जीव हूँ'** और **'यह संसार है'**—इस प्रकार के भ्रमात्मक और अयथार्थ ज्ञान के नाश होने पर **'मैं सच्चिदानन्द शिव हूँ'** और यह जगत् भी **'सच्चिदानन्द शिव है'**—इस प्रकार के **'यथार्थ ज्ञान'** की उत्पत्ति ही **'विशेषार्घ्यामृत'** है।

अब तक **'सामान्य'** और **'विशेष अर्घ्य'** के सामान्य स्वरूप की व्याख्या की गई है। इस समय **'विशेषार्घ्य'** के विशेष स्वरूप का निरूपण किया जाता है।

ऊपर वर्णन किया गया है कि **'विशेषार्घ्य-पात्र'** सूर्य-मण्डल की प्रकृति का है। यह (सूर्य-मण्डल) हृदय अथवा **'अनाहत चक्र-पर्यन्त'** विस्तीर्ण है। शरीर से संयुक्त **'मन'** पात्र है। अन्तःकरण से सीमित **'जीव'** ज्ञान है। **'कूटस्थ'**, जिसे चेतन कहते हैं, **'हृदय-ग्रन्थि'** के प्रभाव से अपने आप अन्तःकरण के साथ मिलकर **एक-रूप** हो जाता है। **हृदय जीव-भाव** का स्थायी स्थान (निवास-स्थान) है। यह (हृदय) **पात्र** है। जब यह **पात्र** भेद-भाव से रहित **सर्व-व्यापकता** (अखण्डाकार-वृत्ति) के अमृत से परिपूर्ण हो जाता है, तब जीव सम्पूर्ण दुःखों को पार कर अर्थात् उनसे विमुक्त होकर **'अखण्डानन्द'** की मूर्ति बन जाता है।

चित्-कला-प्रार्थना

'चित्-कला' की प्रार्थना का **'मन्त्रार्थ'** निम्न-लिखित प्रकार है—

ह्रीं	—	हे सच्चिदानन्द-विमर्श-स्वरूपिणि!
ऐं	—	सम्पूर्ण वेद-शास्त्र-स्वरूपिणी विद्या की मूर्ति!
महा-लक्ष्मीश्वरि	—	सम्पूर्ण लक्ष्यों में श्रेष्ठ ब्रह्म-विद्या!
परम-स्वामिनि	—	पराहन्ता-स्वरूपिणि!
ऊर्ध्व-शून्य-प्रवाहिनि	—	जो उच्चतर आकाश अथवा चिदाकाश में बहनेवाला आनन्द है।
सोम-सूर्याग्नि-भक्षिणि	—	जो तीनों मण्डलों से परे है और उनको प्रकाशित करती है।
परमाकाश-भासुरे	—	जो चिदाकाश में चमकनेवाली है।

आगच्छ, आगच्छ	—	तुम्हारा शुभागमन हो, तुम्हारा स्वागत हो।
विश विश	—	इस पात्र में प्रवेश करो, इस पात्र में प्रवेश करो।
पात्रं प्रति-गृह्ण, प्रति-गृह्ण	—	इस पात्र को स्वीकार करो, इस पात्र को स्वीकार करो।

"**सच्चिदानन्द-विमर्श** की मूर्ति, विद्या-स्वरूपा, महा-वाक्य की लक्ष्यार्थ-रूपा, पराहन्ता-रूपिणी, चिदाकाश से बहनेवाली अमृत की धारा, सम्पूर्ण ज़गत् के निर्माता मण्डल-त्रय का भक्षण करनेवाली, परमाकाश की प्रकाशिका, हे **चित्-कले!** तुम्हारा बारम्बार स्वागत हो। तुम इस आदरणीय **'शरीर'** (पात्र) में प्रवेश कर इसको अपने निवास के लिए अपना बना कर इसे प्रकाशित करो।"

'अमृत' से पात्र भरने के समय **'श्रीविद्या-पद्धति'** निम्न-लिखित क्रम का निर्देश करती है—

तत्त्व-मुद्रया गृहीत-नागर-खण्डोपरि स-बिन्दु-अकारादि-क्षकारान्तं क्षकारादि-अकारान्तं मातृकया अर्पितेन अमृतेन आपूर्य अष्ट-गन्ध-लोलितं पुष्पं निधाय नागर-खण्डं निक्षिप्य।

नागर खण्ड— **'तत्त्व-मुद्रा'** द्वारा ग्रहण किया गया **'नागर'** (आर्द्रक) खण्ड **'शुद्ध मन'** का प्रतिनिधि है, जो पृथ्वी से शिव-पर्यन्त **'षट्-त्रिंशत् तत्त्वों'** को **'शुद्ध विद्या'** में विलीन करने के लिए समर्थ है। इस प्रकार के **'शुद्ध मन'** में ही **'अखण्डैकता'** का अमृत-तुल्य अनुभव (ज्ञान) उत्पन्न हो सकेगा। अतः **'नागर खण्ड'** जीव का निर्देशक है, जो **'जीव'** विचार-निरीहता आदि सम्पूर्ण साधनाओं से पूर्णतया सम्पन्न है।

'मातृकाक्षरों' का **'अनुलोम-विलोम-पूर्वक'** उच्चारण असम्भावना और विपरीत भावना के विनाश करनेवाले **'मनन'** और **'निदिध्यासन'** का निरूपण करता है। इन सब बातों के लिए बड़ी निपुणता से शास्त्रों का अभ्यास नितान्त आवश्यक है और यह भली-भाँति विदित है कि **'मातृकाओं'** से अशेष शास्त्र-समूह का ग्रहण किया गया है अर्थात् **'मातृकाओं'** से **'शास्त्रों'** का तात्पर्य है।

'अष्ट-गन्ध-लोलित' (अष्ट-गन्ध-युक्त) पुष्प आठ प्रकार की सुगन्ध—१. विवेक, २. वैराग्य, ३. शम, ४. दम, ५. उपरति, ६. तितिक्षा,

७. श्रद्धा और ८. समाधान—इन आठ प्रकार की वासनाओं का निरूपण करती है। इन 'आठ साधनाओं' के भले प्रकार प्रतिष्ठित होने पर 'मुमुक्षुत्व' का सद्-भाव होना निश्चित हो जाता है। यह 'मुमुक्षुत्व' पुष्प है। यदि 'मुमुक्षु' उपासक संसार-सागर को पार करना चाहे, तो उसे 'जीव' और 'ब्रह्म' की एकता के 'अमृत' में निमग्न होना चाहिए। अतः 'अष्ट-गन्ध-लोलित' (मिश्रित) पुष्प का स्थापन यह निरूपण करता है कि सम्पूर्ण आवश्यक साधनाओं से सम्पन्न 'मुमुक्षु' सदैव 'अखण्डाकार-वृत्ति' को धारण करता है।

तदनन्तर—'ॐ जूँ सः' —इस मन्त्र से अभिमन्त्रित किया जाता है। यह 'मृत्युञ्जय-मन्त्र' है और यह सूचित करता है कि मृत्यु को जीत कर ही 'अमृत' (अमृतत्व) की प्राप्ति हो सकती है।

"अ-क-थादि. . . . . रेखा-त्रयं (ह-ळ-क्ष) त्रिकोणं विलिख्य।"

त्रि-रेखात्मक त्रिकोण—इस 'त्रिकोण' में समस्त (५१) एक-पञ्चाशत् अक्षरों का ध्यान करना चाहिए। अतः यह 'त्रिकोण' सब विद्याओं की मूर्ति है। शास्त्र-योनित्वात् इस 'ब्रह्म-सूत्र' के अनुसार 'चित्-शक्ति' से अव्यतिरिक्त (अभिन्न) शिव का ज्ञान 'शाब्द' अथवा 'वैदिक' प्रमाण के अतिरिक्त और किसी अन्य (प्रमाण) द्वारा नहीं हो सकता। वेद, वेदान्त, स्मृति, पुराण, इतिहास, सूत्र, निगम, आगम एवं प्रकरण आदि सब 'विद्याओं' का यथार्थ आशय 'आनन्द-स्वरूप' अद्वितीय 'ब्रह्म' है और उसकी (ब्रह्म की) एकता के भाव को 'महा-वाक्य' प्रकट करते हैं। 'महा-वाक्यों' के 'वाच्यार्थ' द्वारा भी 'ब्रह्म' की एकता का पता नहीं चलता, परन्तु उनके 'लक्ष्यार्थ' से उसका 'ऐक्य' प्रतीत होता है। 'वरिवस्या-रहस्य'-व्याख्या के २.११३ के अनुसार यह भाव 'अकथात्मक रेखा-त्रय' और 'ह-ळ-क्ष' त्रिकोण से स्पष्ट प्रतीत होता है।

"अकथासनं हळक्षान्तरं कथानां वाचां अनासनं अविषयम्। वाच्य-कक्षामतिक्रान्तमिति यावत्। हेति निश्चये। लक्षस्य लक्षणाया अन्तरमवकाशो यस्मिंस्तत्।"

पञ्चदशी महा-विद्या अपने कूट-त्रय से उसी का निरूपण करती है।

'बिन्दौ स-बिन्दु तुरीय-स्वरं....................।'

बिन्दु में 'ईं' बीज को लिखना चाहिए। यह 'काम-कलाऽक्षर' है। 'जन्माद्यस्य यतः'— इस 'ब्रह्म-सूत्र' में इसकी व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—

जिस समय 'आत्मा' की सर्व-व्यापकता का अनुभव करने के लिए 'मन' अपनी कल्पना (दृष्टि) का प्रस्तार करने को समर्थ होता है, उस समय जो अन्तर-ज्ञान से उपलब्ध है, वह 'शिव' है। 'मनन' और 'निदिध्यासन' द्वारा साक्षात् प्रत्यक्षीकरण करनेवाले इस 'काम-कला बीज-मन्त्र' की दीक्षा से दीक्षित उपासकों के लिये श्रुति वर्णन करती है कि उन्हें निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए दूसरे लोकों में नहीं जाना पड़ता, किन्तु उन्हें इसी लोक में उसकी प्राप्ति हो जाती है और वे स्वयं 'ब्रह्म' हो जाते हैं।

तुरीय-स्वरं साक्षात् तुरीय-रूपमेव। यदी ँ शृणोत्यलक ँ शृणोति, न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् इति। बिन्दु-युक्त-ईकार-मात्र श्रवणं तु लकार-ककार-राहित्येन श्रवणम्, अतस्तद्वान्। सुकृतस्य सत्कर्मणः पन्थामुत्तम-लोकान् न याति, किन्तु निर्गुण-ज्ञानं प्राप्नोति इहैव। "अत्र ब्रह्म समश्नुते" "ब्रह्म-विद् ब्रह्मैव भवति"॥

तद्-वाम-दक्षयोः हंसः इति च विलिख्य, हंसः नमः इति आराध्य.....।

पूजा-पद्धति कहती है कि 'बिन्दु' के दक्षिण और वाम-मार्ग में 'हं' और 'सं' ये दो बीज लिखने चाहिए। 'हंसः' यह शब्द 'अहं सः' इस महा-वाक्य का निरूपण करता है। 'अहं' —मैं तीन शरीरों से भिन्न, पञ्च-कोषों से परे और ज्ञान की तीन अवस्थाओं का साक्षी हूँ। 'सः'—वह शिव (हूँ)। यही उपदेश महा-वाक्य—'तत्-पद' का आशय है। अर्थात् 'मैं वही शिव हूँ' और 'नमः' (न=नहीं) मः-शब्द के वाच्यार्थ से निरूपित जीव नहीं हूँ। अतः विशेषार्घ्यामृत के विषय में निम्न-लिखित तथ्य अखण्डनीय है—

मैं शिव हूँ, जिसकी (शिव की) व्याख्या करना ही शास्त्रों का अन्तिम लक्ष्य है और सप्त कोटि महा-मन्त्रों का तत्त्व है, स्वयं काम-कला है तथा अविनश्वर है। मैं कर्त्ता और भोक्ता जीव नहीं हूँ, जो जन्म और मरण के समुद्र में फेंका गया है।

विशेषार्घ्य इस प्रकार सन्तत विचार करनेवाले मन का निरूपण करना है।

सुधा-देवी-स्वरूपानुसन्धान

इसके अनन्तर 'श्रीविद्या-पद्धति' सुधा देवी की सपर्या का आदेश देती है। सुधा देवी पञ्च-दशी महा-विद्या की चित्-शक्ति, ज्ञान-निष्कर्ष, चिन्मयी, आनन्द-स्वरूपा (आनन्द-लक्षणा) है तथा 'अमृत-कलश-पिशित-हस्त-द्वयां' अर्थात् अपने एक हाथ में सुधा-कलश और दूसरे में

मत्स्य-खण्ड धारण करती है। वह सर्वदा **प्रसन्न-मन** (प्रसन्ना) है तथा अपने प्रकाश से समस्त विश्व को चकाचौंध कर रही है। यह (**सुधा देवी**) विशेषार्घ्यामृत-स्वरूपिणी है।

सुधा देवी की पूजा का तात्पर्य '**नमः**' और '**स्वाहा**' —इन दो शब्दों में निहित है। '**नमः**' का अर्थ निम्न-लिखित है—

यदि यह अवस्था प्राप्त की जाए, तो '**जीव-भाव**' को '**ज्ञानाग्नि**' में भस्म करना पड़ेगा। '**जीव-भाव**' के दूर करने पर '**आनन्द**' का अनुभव स्वयं होने लगेगा। अतएव शास्त्र निर्देश करते हैं कि '**तर्पण**' आनन्द का निरूपक है। '**स्वाहा**' का सबसे बड़ा अर्थ '**ज्ञान-रूपी खड्ग**' द्वारा '**जीव**' के समस्त सीमित '**अनुबन्धों**' को काट डालना है।

'**सुधा देवी**' के एक हाथ में '**अमृत-कलश**' और अपर कर में '**मत्स्य, मांस**' क्रम से मोक्ष अथवा '**शाश्वतिक आनन्द**' का और संसार के '**क्षणिक सुख**' का निरूपण करते हैं। '**मत्स्य**' अपवित्र मन का व्यञ्जक है। इस प्रकार के ही '**मन**' में '**जीव-भाव**' अपनी '**मायिक**' आकृति (रूप) को दिखाता है। यह '**प्रवृत्ति-मार्ग**' है और दूसरा '**निवृत्ति-मार्ग**'। इन दोनों मार्गों में '**आनन्द-मय शिव**' सर्वदा विद्यमान रहता है, किन्तु '**प्रवृत्ति-मार्ग**' में भ्रान्त '**जीव**' विचारता है कि '**आत्मा**' का वास्तविक '**आनन्द**' बाह्य कारणों से प्राप्त होता है। अतएव '**इन्द्रिय-भोगों**' को प्राप्त करने के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न करता है। इस प्रकार से प्राप्त '**आनन्द**' क्षणिक है, किन्तु जब सुख की **साधना-उपाधियों** का निराकरण हो जाता है, तब वही विषय-सुख '**निरुपाधिक सुख**' हो जाता है— यह '**निवृत्ति-मार्ग**' है। '**विषय-सुख**'—१. शब्द, २. स्पर्श, ३. रूप, ४. रस, ५. गन्ध—इन '**पञ्च ज्ञानेन्द्रियों**' के विषयों से बना हुआ है। ये ही '**उपभोग के जगत्**' को बनाते हैं और ये ही '**पञ्च-तत्त्वों**' के अति सूक्ष्म स्वरूप हैं। ये '**पञ्च-तत्त्वों**' के '**सूक्ष्म स्वरूप**' ही '**शाक्त-तन्त्रों**' में '**पञ्च-मकार**' कहे जाते हैं। यहाँ पर '**मकार**' शब्द '**जीव**' के '**उपभोग के जगत्**' के लिए आया है। यह जीव '**मकार**' से निरूपित किया गया है। **भोक्ता जीव** को विषयोपभोगों (पञ्च-मकारों) के साथ मिलाना और '**अहं**' पद की तात्पर्य—'**सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी भगवती**' के चरण-कमलों में दोनों (**भोग और भोक्ता जीव**) को समर्पित कर देना '**तर्पण**' का वास्तविक अर्थ है। '**पर-देवता**' का '**बिन्दु-तर्पण-सन्तुष्टा**'—यह

नाम प्रकट करता है कि जब उपासक '**बिन्दु**' से निरूपित अपने '**जीव-भाव**' को '**पर-देवता**' (भगवती) के लिए समर्पित कर देता है, तब वह अत्यन्त प्रसन्न होती है।

इस प्रकार '**पञ्च-तत्त्वों**' से संयुक्त '**मन**' जीव के रूप में '**विशेषार्घ्य**' है। '**अखण्डाकारामृत**' की मूर्ति '**सुधा देवी**' के प्रभाव से इस प्रकार का '**पवित्र मन**' उसमें (सुधा देवी) निमग्न हो जाता है। यह '**विशेषार्घ्यामृत**' (सुधा देवी) का रहस्य-मय अर्थ है।

पञ्च-मकारों का निर्णय

"पञ्च-दशाक्षर-रूपा नित्या चैषा हि भौतिकाऽभिमता"।

(काम-कला-विलास, १५)

उपर्युक्त श्लोक के अनुसार '**पञ्च-दशी-मन्त्राक्षरों**' से निरूपित सूक्ष्म '**पञ्च-तत्त्व**' पर-देवता के एक कर (हाथ) में **शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध**—'**पञ्च-बाणों**' के रूप में विद्यमान हैं। ये '**पञ्चेन्द्रिय-विषय**' पञ्च-मकारों का निर्देश करते हैं। तन्त्र-ग्रन्थों में पाँच '**कुल-द्रव्य**' आनन्द-स्वरूप '**ब्रह्म**' के अभिव्यञ्जक हैं—

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, तच्च देहे व्यवस्थितम्।
तस्याभिव्यञ्जकाः पञ्च-मकाराः 'कुल'-संज्ञिकाः॥

(कुलार्णव)

कुछ तन्त्र '**अधमाधिकारियों**' के लिए इन '**कुल-द्रव्यों**' में **मद्य, मीन, मांस, मुद्रा और मैथुन** की गणना करते हैं। इस प्रकार की व्याख्या करनेवाले तन्त्रों का लक्ष्य '**कर्म-काण्ड**' है, '**ज्ञान-काण्ड**' नहीं। उदाहरण के लिए '**कुलार्णव**' ५.९० का एक श्लोक निम्न-लिखित है—

यथा क्रतुषु विप्राणां, सोम-पानं विधीयते।
मद्य-पानं तथा कार्यं, समये भोग-मोक्षदम्॥

यह प्रत्यक्ष है कि '**देवी - याग**'— कर्मकाण्डान्तर्गत केवल '**मध्यमाधिकारियों**' के लिए है। '**उत्तमाधिकारियों**' के लिए यह '**याग**' पूर्णतया '**ज्ञान-यज्ञ**' है और इसमें बाह्य सहकारियों की आवश्यकता नहीं है।

'**अधमाधिकारियों**' के लिए '**पञ्च-मकारों**' को '**कुल-द्रव्य**' निरूपण करनेवाले वही तन्त्र '**उत्तमाधिकारियों**' के लाभ के लिए '**पञ्च-मकारों**' का वास्तविक अर्थ निम्न-लिखित प्रकार से दर्शाते हैं। इतना ही नहीं, वे यह

भी घोषित करते हैं कि '**पञ्च-मकारों**' का वास्तविक अर्थ समझे बिना जो उपासक पशुओं की भाँति इन्द्रियों के विषय-भोग में निमग्न हो जाते हैं, उनके स्वागत के लिए नरक के द्वार हमेशा खुले रहते हैं। इस विषय पर अधिक विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है।

(१) मद्य—यह 'पञ्च-मकारों' में से 'सर्व-प्रथम' है और 'अग्नि-तत्त्व' का निरूपण करता है—

लिङ्ग-त्रय-विशेषज्ञः, षडाधार-विभेदकः।
पीठ-स्थानानि चागत्य, महा-पद्म-वनं व्रजेत्॥
आमूलाधारमाब्रह्म-रन्ध्रं गत्वा पुनः पुनः।
चिच्चन्द्र-कुण्डली-शक्ति-सामरस्य-सुखोदयः॥
व्योम-पङ्कज-निष्यन्द, सुधा-पान-रतो नरः।
सुधा-पानमिदं प्रोक्तमितरे मद्य-पायिनः॥

(कुलार्णव, ५.१०६-१०८)

ब्रह्म-स्थान-सरोज-पात्र-लसिता ब्रह्माण्ड-तृप्ति-प्रदा।
या शुभ्रांशु-कला-सुधा विगलिता सा पान-योग्या सुरा।

(तन्त्र-तत्त्व-प्रकाशिका)

यदुक्तं परमं ब्रह्म, निर्विकारं निरञ्जनं।
तस्मिन् प्रमदनं ज्ञानं, तन्मद्यं परि-कीर्तितम्॥

(विजय तन्त्र)

२. मत्स्य—यह 'द्वितीय मकार' 'जल-तत्त्व' का निरूपण करता है—

मनसा चेन्द्रिय-गणं, संयम्यात्मनि योजयेत्।
मत्स्याशी स भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राणि-हिंसकाः॥

(कुलार्णव, ५.११०)

अहङ्कारो दम्भो मद-पिशुनता-मत्सर-द्विषः,
षडेतान् मीनान् वै विषय-हर-जालेन विधृतान्।
पचन् सद्-विद्याग्नौ नियमित-कृतिर्धीवर-कृतिः,
सदा खादेत् सर्वान् न च जल-चराणां तु पिशितम्॥

(तन्त्र-तत्त्व-प्रकाशिका)

३. मांस—'तृतीय मकार' 'पृथ्वी-तत्त्व' का निरूपण करता है—

पुण्यापुण्य-पशुं हत्वा, ज्ञान-खड्गेन योग-वित्।
परे लयं नयेच्चित्तं, पलाशी स निगद्यते॥

(कुलार्णव, ५.१०९)

काम-क्रोध-सुलोभ-मोह-पशुकांश्छित्वा विवेकासिना,
मांसं निर्विषयं परात्म-सुखदं भुञ्जन्ति तेषां बुधाः।
कम-क्रोधौ पशू-तुल्यौ बलिं दत्वा जपं चरेत्।

(तन्त्र-तत्त्व-प्रकाशिका)

४. मुद्रा—'चतुर्थ मकार' 'वायु-तत्त्व' का निरूपण करता है—

आशा-तृष्णा-जुगुप्सा-भय-विषय-घृणा-मान-लज्जा-प्रकोपाः,
ब्रह्माग्रावष्ट-मुद्राः पर-सुकृति-जनः पच्यमानाः समन्तात्।
नित्यं सम्भावयेत् तानवहित-मनसा दिव्य-भावानुरागी,
योऽसौ ब्रह्माण्ड-भाण्डे पशु-हति-विमुखो रुद्र-तुल्यो महात्मा॥

(तन्त्र-तत्त्व-प्रकाशिका)

५. मैथुन—यह 'पाँचवाँ मकार' 'आकाश-तत्त्व' का निरूपण करता है—

परा-शक्त्यात्म-मिथुन-संयोगानन्द-निर्भरः।
य आस्ते मैथुनं तत् स्यादपरे स्त्री-निषेवकाः॥

(कुलार्णव, ५.११२)

५। नाडी सूक्ष्म-रूपा परम-पद-गता सेवनीया सुषुम्ना,
सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा न मनुज-रमणी सुन्दरी-वार-योषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्क-योगे युग-पवन-गते मैथुनं नैव योनौ,
योगीन्द्रो विश्व-वन्द्यः सुख-मय-भवने तां परिष्वज्य नित्यम्॥

(तन्त्र-तत्त्व-प्रकाशिका)

अतः 'पञ्च-मकारों' का वास्तविक अर्थ निम्न-लिखित प्रकार है—

'मद्य' का तात्पर्य 'ब्रह्मात्मिका अखण्डाकार-वृत्ति' है, जिसका प्रवाह 'सहस्रार-कमल' द्वारा होता है। 'मत्स्य' का अर्थ इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति और बाह्य विषयों पर स्वभावतः प्रवर्तित होनेवाले 'मन का वशीकरण' है। 'मांस' का भाव कर्म-फलों के बन्धन से युक्त पशु-भाव को ज्ञान-रूपी खड्ग से काट कर 'ब्रह्म की एकता में निमग्न होना' है।

'मुद्रा' का विशेषार्थ 'ब्रह्म-विद्या की अग्नि' में समस्त बुरी वासनाओं की आहुति देकर 'ज्योति' और अपरिमित 'आनन्द' प्राप्त करना है। 'मैथुन' का वास्तविक अर्थ (तात्पर्य) 'शिव-शक्ति-सामरस्य' अथवा सब प्रकार के संशय और बुरी वासनाओं से रहित 'जीव और ब्रह्म की एकता' है।

उपासक को 'पञ्च-मकारों' के उक्त तथ्यों पर सर्वदा अपने मन में विचार करना चाहिए।

इत्यादि पञ्च-मुद्राणां, वासनां कुल-नायिके!
ज्ञात्वा गुरु-मुखाद् देवि! यो भावयेत् स मुच्यते॥

(कुलार्णव, ५.११३)

'वषट्' इत्युद्धृत्य, 'स्वाहा' इति तत्रैव निक्षिप्य, 'हुं' इत्यवगुण्ठ्य, 'वौषट्' इति धेनु-मुद्रया अमृतीकृत्य, 'फट्' इति संरक्ष्य, 'नमः' इति पुष्पं दत्त्वा॥

'वषट्, स्वाहा, हुँ, वौषट्, फट्' और 'नमः' —ये छः प्रारम्भिक शब्द मन्त्र के अङ्ग हैं। 'मन्त्र' का आशय 'महा-वाक्य' की प्रकृति का है। अतएव ये छः अङ्ग महा-वाक्योपदिष्ट 'अद्वैत-ज्ञान' की रक्षा करने में सहायता करते हैं। इस प्रकार 'अद्वैत-ज्ञान' की रक्षा के लिए उपासक का कर्तव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उपासक को इस बात का अनुभव करना चाहिए कि 'पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों' के 'शब्द, स्पर्श' आदि पाँचों विषय तथा 'मन' शिव-स्वरूप हैं—

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां, तत्तदात्मेति भावयेत्।
यत् पश्यति चक्षुर्भ्यां, तत्तदात्मेति भावयेत्।
लभते नासया यद्यत्, तत्तदात्मेति भावयेत्॥
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति, तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचा यद्यत् स्पृशेद् योगी, तत्तदात्मेति भावयेत्॥

(योग-तत्त्वोपनिषद्, ६९-७१)

दृष्टिं ज्ञान-मयीं कृत्वा, पश्येद् ब्रह्म-मयं जगत्।

(तेजो-बिन्दु उपनिषद्, १.२९)

यदि उपासक चिर-काल-पर्यन्त इस प्रकार 'श्रद्धा' और 'भक्ति-पूर्वक' नित्य विचार करता रहे, तो सच्चिदानन्द शिव की भावना दृढ़ता से प्रतिष्ठित हो जाएगी और तदनन्तर 'द्वैत-भावना' अवश्यमेव विनाश को प्राप्त हो जाएगी।

'पूजा-पद्धति' कहती है कि **'विशेषार्घ्यामृत - बिन्दुओं'** से समस्त **'पूजा-सामग्री'** का **'प्रोक्षण'** कर (सींच कर) उसे **'विद्या-मय'** समझना चाहिए। इसका अभिप्राय केवल **'आत्म-भावना'** से है, जिसे ऊपर उद्धृत उपनिषद्-वाक्य आदिष्ट करता है।

शुद्धि-पात्र—शुद्धि-संस्कार

'शुद्धि' का अर्थ किसी वस्तु को पवित्र करना है। केवल अपवित्र वस्तुएँ ही पवित्र की जाती हैं। स्वभावतः अपवित्र पदार्थों को येन-केन प्रकार से पवित्र करना असम्भव है। **'मोह'** के कारण ही **'अपवित्रता'** का भाव उत्पन्न होता है। **'सत्यता'** के **'ज्ञान'** से यदि यह **'मोह'** दूर हो जाता है, तब **'अपवित्रता'** का भाव भी विनष्ट हो जाता है और **'पवित्रता'** निश्चित उत्पन्न हो जाती है। **''मैं नीच कुलोत्पन्न हूँ''**—इस प्रकार के **'मोह'** से पहले पहल **'कर्ण'** अत्यन्त दुखित रहता, किन्तु जब उसे यह निश्चय हो गया कि मैं शुद्ध क्षत्रिय जाति-उत्पन्न हूँ, तो वह प्रसन्न हो गया। इस प्रकार **'महा-भारत'** की कथा का इस सम्बन्ध में स्मरण करना उचित ही है।

इस संसार में **'शुद्धि'** के योग्य निखिल पदार्थों में निश्चय-पूर्वक **'जीव'** सर्व-प्रथम है। केवल **'जीव'** से ही समस्त पदार्थ प्रकाशित होते हैं। यदि **'जीव'** नहीं है, तो संसार भी नहीं है। यदि **'जीव'** का **'पशु-भाव'** शुद्ध हो जाता है, तो प्रत्येक वस्तु का विनाश हो जाएगा। अतः यह प्रत्यक्षतया अवगत होना चाहिए कि **'शुद्धि-पात्र'** का विशिष्ट अर्थ **'जीव-भाव'** है—

जीवः शिवः शिवो जीवः, स जीवः केवलः शिवः।
तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात्, तुषाभावे तु तण्डुलः॥
एवं बद्धस्तथा जीवः, कर्म-नाशे सदा-शिवः।
पाश-बद्धस्तथा जीवः, पाश-मुक्तः सदा-शिवः॥

(स्कन्दोपनिषद्)

अनादि काल से **'मन'** के साथ आसङ्ग रखनेवाले **'विक्षेप'** और **'आवरण'** नामक **'मल'** की अपवित्रताएँ **'पाश'** को बनाती हैं, जिससे (पाश से) **'जीव'** बद्ध हो जाता है। इस **'पाश'** के कटने पर वह (जीव) **'शिव'** होकर प्रकाशित होता है। क्या धान छिलके के दूर होने पर शुद्ध चावल नहीं कहलाता? अवश्यमेव कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार **'धान'** छिलके के दूर होने पर **'चावल'** कहलाता है, एवमेव **'पशु-भाव'** के दूर होने पर **'जीव'** भी **शिव** हो जाता है—

उद्-बुध्यस्व पशो! त्वं हि, नाशिवस्त्वं शिवो ह्यसि।
शिवोत्कृत्तमिदं पिण्डमतस्त्वं शिवतां व्रज॥

यह मन्त्र 'जीव' को अज्ञान-मुद्रा की अवस्था से ज्ञान-रूपिणी जागृतावस्था में ले आता है। इसका अर्थ निम्न-लिखित है—

"हे जीव! तुम जाग जाओ' (अपने मन में विचारो)। तुम वास्तव में जीव नहीं हो अर्थात् शिव से भिन्न नहीं हो (तुम वास्तव में शिव हो)। तुम्हारे उपाधि-स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर 'अज्ञान' के कारण बने हैं और तुम इन 'मायिक उपाधियों' से मुक्त होकर 'शिव' बन जाओ।"

'ॐ श्लीं पशु हुं फट्' —इस 'पाशुपतास्त्र' से 'शुद्धि-पात्र' का संस्कार किया जाता है। 'श्लीं' = 'लं'—यह 'पृथ्वी-बीज' पञ्च-भूतों का निरूपण करता है और 'शं' अक्षर का अर्थ 'शब्द, स्पर्श' आदि इन्द्रिय-सुखों को दर्शाता है। अतः 'श्लीं' बीज विषय-सुख के उपभोग करनेवाले भोक्ता 'जीव' का निरूपण करता है। 'श्लीं' बीज में 'ई' अक्षर 'कूटस्थ' का सूचक है। उपाधियाँ ही 'जीव' के विषय-सुख के स्थान-स्वरूप 'सूक्ष्म' और 'कारण'-शरीर हैं। 'पशु' का अर्थ 'पाश' है। यह 'पाश' अनासत्व 'कूटस्थ' और 'शरीर-त्रय' के मध्य में एक प्रकार का सम्बन्ध प्रतिष्ठित करता है और जो इस 'पाश' से बद्ध होता है, वही 'पशु' है। 'हुं' और 'फट्'—ये दो 'बीज' उस 'पाश' के विभेद (विच्छेद) को सूचित करते हैं। 'जीव' का विषयोपभोग में निमग्न होना भेद-भाव के अनुभव का परिणाम है और यह पुनः 'अज्ञान' का परिणाम है तथा अन्तःकरण की सीमा है। अतः यह मन्त्र 'जीव-भाव' के विनाश का और 'शुद्ध कूटस्थ-भाव' के प्रकाश का निर्देश करता है।

'शुद्धि-पात्र' में 'आर्द्रक-खण्ड' को रख देने से शास्त्रों ने 'मन' का निर्देश किया है और यह आवश्यक है कि उपासक को उक्त निर्देशानुसार इस पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार का विचार किसी भी पदार्थ के विषय में किया जा सकता है। एक बार पुनः इसके वर्णन करने में कोई हानि नहीं है कि 'तर्पण' का वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक विचार के 'अखण्डानन्द-विशेषार्घ्य' द्वारा 'जीव' की 'अपवित्र सीमा' का प्रक्षालन करना है।

गुरु-पात्र—यहाँ 'गुरु-पात्र' गुरु द्वारा सिखाए गए 'महा-वाक्य' का तथा उस 'गुरु-कृपा' का निर्देश करता है, जिसके द्वारा उपासक परमात्मा की सीधी प्राप्ति करानेवाली 'समाधि' लगाने में समर्थ होता है।

आत्म-पात्र—यह '**आत्म-पात्र**' अहं-पद के सूचक सीमा-रहित '**कूटस्थ**' का तथा '**जीवन-मुक्ति**' के '**विशेषानन्द-जनक सविकल्प समाधि**' का द्योतक है।

बलि-पात्र—यद्यपि '**भोग-त्याग-लक्षणा**' के अभ्यास से '**अविद्या**' और उसके साथ '**जीव-भाव**'—दोनों का ही विनाश हो जाता है, तथापि '**विषयों का साहचर्य**' और '**ज्ञान**' जीव के प्रारब्ध-पर्यन्त बना रहेगा, जिससे '**मन**' को केवल '**विषयों का ज्ञान**' ही नहीं होगा, वरन् उनका '**उपभोग**' भी प्राप्त होगा।

नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याज-शान्तात्मना,
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके।
प्रारब्धाय समर्पितं स्व-वपुरित्येषा मनीषा मम।

(मनीषा-पञ्चक)

'**स्थूल, सूक्ष्म**' और '**कारण-शरीरों**' के लिए इनका ('**जीव-भाव**' और '**अविद्या**' का) प्रदान करना ही '**बलि**' है। **दूषित भाव, कु-पथ में ले जानेवाली इन्द्रियाँ और निकृष्ट शरीर**—ये सब '**भेद-भावना**' को पैदा करते हैं और '**परमात्मा की प्राप्ति**' में विघ्न डालते हैं। इसके विषय में नवम खण्ड के प्रारम्भ में '**बलि-पात्र-वर्णन**' में कहा जाएगा।

विशेषार्घ्य का संस्कार

निन्यानबे (९९) मन्त्रों के उच्चारण से '**विशेषार्घ्य**' का '**संस्कार**' करना आवश्यक है। ये मन्त्र निम्नलिखित हैं—१० (दश) अग्नि-कलाएँ, १२ (द्वादश) सूर्य-कलाएँ, १६ (षोडश) चन्द्र-कलाएँ, १० (दश) ब्रह्म-कलाएँ, १० (दश) विष्णु-कलाएँ, १० (दश) रुद्र-कलाएँ, ४ (चार) ईश्वर कलाएँ, १६ (षोडश) सदाशिव-कलाएँ, पञ्च-ब्रह्म का वर्णन करनेवाली ५ (पाँच) ब्रह्म-कलाएँ, सुधा देवी के ३ (तीन) मन्त्र, अमृतेश्वरी मन्त्र, दीपिनी मन्त्र और मूल-मन्त्र—ये ९९ (**निन्यानबे**) मन्त्र सूक्ष्म जगत्, स्थूल जगत्, जीव-जगत् के कारण '**परमेश्वर**', कार्य '**ब्रह्म**' और अभिन्न '**प्रकाश**' तथा '**विमर्श**' का निर्देश करते हैं। '**विशेषार्घ्य**'— **प्रकाश और विमर्श का साम्य है**। यही इसका (**विशेषार्घ्य का**) विशेष तात्पर्य है।

सुधा देवी मन्त्र—

अखण्डैक-रसानन्द-करे पर-सुधात्मनि!
स्वच्छन्द-स्फुरणामत्र, निधेहि कुल-नायिके!॥१॥
अकुलस्थामृताकारे, शुद्ध-ज्ञान-करे परे।
अमृतत्वं निधेह्यस्मिन्, वस्तुनि क्लिन्न-रूपिणि!॥२॥
तद्-रूपिण्यैकरस्यत्वं, कृत्वा ह्येतत्-स्वरूपिणि!
भूत्वा परामृताकारा, मयि चित्-स्फुरणं कुरु॥३॥

इन मन्त्रों का अर्थ नीचे दिया जाता है—

(१) दुःख के चिह्नों से निर्मुक्त '**अखण्डानन्द**' से प्रकाशित होनेवाली हे कुल-नायिके! परमामृत-स्वरूपिणी इस '**सुधा**' में तुम '**चित्-शक्ति**' के साथ स्फुरण करो अर्थात् इसे उत्तेजित करो।

(२) हे अकुल-सहस्रारामृत-स्वरूपिणी (अकुल-सहस्रार में निवास करनेवाले अमृत के रूप-वाली) हे देवि! तुम विशेषार्घ्य-पात्र में स्थित इस '**पवित्र सुधा**' को '**ब्रह्म**' के यथार्थ ज्ञान को देनेवाले '**अखण्डानन्दामृत**' के गुणों से (शक्ति से) परिपूर्ण कर दो।

(३) हे पर-ब्रह्म-स्वरूपिणि! तुम कृपा कर इस '**विशेषार्घ्य**' के स्वरूप को धारण कर मेरे हृदय में '**नित्यानन्द-चित्-शक्ति**' के साथ स्फुरण करो, यतः मैं प्रकाश-मय (तेजोमय) '**ब्रह्म**' के साथ एकता का अनुभव कर सकूँ।

उपर्युक्त तीन मन्त्र '**विशेषार्घ्य**' की महत्ता के द्योतक हैं।

'**अमृतेश्वरी**' का मन्त्र इस प्रकार है—

ऐं ब्लूं झ्रौं जुं सः अमृते अमृतोद्भवे अमृतेश्वरि ! अमृत-वर्षिणि! अमृतं स्रावय स्रावय स्वाहा।

इसका अर्थ इस प्रकार है— '**ऐं**'—यह '**वाग्भव बीज**' सम्पूर्ण शास्त्रों का निरूपण है। '**ब्लूं**'—यह '**वश्य-वाण बीज**' दृश्य जगत् को आत्मा में विलीन करने की शक्ति का उत्पादक है। '**झ्रौं जुं सः**'—यह '**चित्-चन्द्र-मण्डल**' से प्रवाहित होनेवाला '**परमामृत**' है। "**अमृते.....स्वाहा**"—अत्यन्त प्रसन्नतोत्पादक '**अमृत-स्वरूपिणि**' हे देवि! तुम एकता के भाव को प्रदान करनेवाली तथा सर्व-व्यापक '**आत्मा**' के साथ संसर्ग (मेल-जोल) करानेवाली योग्यता की उत्पादक '**अधिष्ठान-शक्ति**' हो! तुम मेरे '**मन**' में आनन्द बरसाने की कृपा करो।

'दीपिनी मन्त्र' इस प्रकार है— **ऐं वद वद वाग्वादिनि ऐं; क्लीं क्लिन्ने क्लेदिनि क्लेदय महा-क्षोभं कुरु कुरु क्लीं; सौः मोक्षं कुरु कुरु; हसौं स्हौं।**

उक्त **'दीपिनी मन्त्र'** का अर्थ इस प्रकार है—**'प्रत्यगात्मा'** का व्यञ्जन (प्रकट) करनेवाली मानसिक वृत्तियाँ **'दीपिनी-वृत्ति'** के नाम से प्रसिद्ध हैं और **'दीपिनी-वृत्ति'** का उत्पादक मन्त्र **'दीपिनी मन्त्र'** कहा जाता है। यह मन्त्र तीन खण्डों से बना हुआ है और उन खण्डों के प्रारम्भ में क्रमशः **'वाग्भव बीज, काम-राज बीज'** और **'शक्ति-कूट'** तथा अन्त में **'प्रासाद-परा'** और **'परा-प्रासाद-बीज'** संयुक्त किए गए हैं।

'वाग्भव-खण्ड' वेद और शास्त्रों के इस आशय को निरूपित करता है कि **'प्रत्यगात्मा'** किसी प्रकार भी **'ब्रह्म'** से भिन्न नहीं है। **'काम-राज-खण्ड'** दर्शाता है कि उपर्युक्त प्रकार की **'आत्मा'** की प्राप्ति के लिए **'मन'** पवित्र तथा अमृत के समान द्रव-युक्त हो। यह अवस्था **'आत्म-गोचर अखण्डाकार-वृत्ति'** कही गई है। **'शक्ति-खण्ड'** कहता है कि उपासक उपरि-निर्दिष्ट मानसिक दशा (आत्म-गोचराखण्डाकार- वृत्ति) से **'मोक्ष'** को प्राप्त करता है। **'प्रासाद-परा'** और **'परा-प्रासाद-बीज'** जीव और ब्रह्म की **'एकता'** तथा **'जीवन्मुक्ति-दशा'** का निरूपण करते हैं।

गुरु-यजन

गुरु द्वारा सिखाए गए **'महा-वाक्य'** के अर्थ का विचार करना तथा उसके ऊपर निश्चय रखना **'गुरु-यज्ञ'** कहलाता है। इस प्रकार के विचार के लिए कुछ श्लोक नीचे दिए जाते हैं—

(१) **स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!**

(२) **तत्त्वमसि त्वं तदसि।**

(३) **यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा, विश्वस्यायतनं महत्।**

(४) **सूक्ष्मात् सूक्ष्म-तरं नित्यं, तत्त्वमेव त्वमेव तत्।**

(५) **मा भव ग्राह्य-भावात्मा, ग्राहकात्मा च मा भव।**
भावनामखिलां त्यक्त्वा, यच्छेषं तन्मयो भव॥

(६) **द्रष्टृ-दर्शन-दृश्यानि, त्यक्त्वा वासनया सह।**
दर्शन-प्रथमाभासमात्मानं केवलं भज॥

(७) **एकमाद्यन्त-रहितं, चिन्मात्रममलं ततम्।**
खादप्यति-तरां सूक्ष्मं, तद्-ब्रह्मास्मि न संशयः॥

(८) **अनात्मेति प्रसङ्गो वा, अनात्मेति मनोऽपि वा।**
अनात्मेति जगद् वापि, नास्त्यनात्मेति निश्चिनु॥

(९) **निद्राया लोक-वार्तायाः, शब्दादेरात्म-विस्मृतेः।**
क्वचिन्नावसरं दत्वा, चिन्तयात्मानमात्मनि॥

(१०) **सर्व-व्यापारमुत्सृज्य, अहं ब्रह्मेति भावय।**
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य, अहं भावं परित्यज॥

यदि संयोग-वश '**गुरु**' निकट हों, तो चुना हुआ '**ध्यान-प्रकार**' (विधि) उनके सम्मुख उपस्थित करना चाहिए। अवलम्बित विधि पर '**गुरु**' का अनुमोदन '**गुरु को पात्र स्वीकार**' है अर्थात् '**गुरु**' द्वारा शिष्य की विधि का अनुमोदन ही '**गुरु**' का '**पात्र-स्वीकार**' करना है।

आत्म-पात्र-स्वीकार

'**आत्म-पात्र-स्वीकार**' का अर्थ '**निदिध्यासन**' है। सबसे पहले उपासक को '**मूलाधार**' में पूर्व-कर्मों के '**संस्कार-काष्ठ**' द्वारा जलती हुई '**नीवार-शूक**' (किंशारु) के समान अत्यन्त सूक्ष्म (तन्वी) **कुण्डलिनी-शक्ति** के ऊपर '**चिदग्नि-मण्डल**' का ध्यान करना चाहिए। पुनः उपासक को उसे अपनी सच्ची '**आत्मा**' समझ कर उसमें पूर्व-जन्म-सञ्चित पुण्य-पाप, कृत्य-अकृत्य, सङ्कल्प-विकल्प, धर्म और अधर्म—सब प्रकार की बलि दे देनी चाहिए अर्थात् उपासक को यह अनुभव करना चाहिए कि उपर्युक्त '**पुण्य-पापादि**' में से कोई भी उसके साथ कुछ नहीं कर सकता क्योंकि वह '**प्रत्यगात्मा**' है और '**पुण्य-पापादि**' वास्तव में उसके भाग (हिस्से) नहीं हैं। '**चिदग्नि**' (ज्ञानाग्नि) सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

इस प्रकार के '**निदिध्यासन**' से '**प्राण, बुद्धि**' और '**शरीर**' के संसर्ग के परिणाम-स्वरूप '**जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति**'—इन तीन अवस्थाओं में से '**मन, वाणी**' और '**कर्म**' से किए हुए '**जीव**' के पूर्व-जन्म के **समस्त कर्म ब्रह्मार्पण** किए गए हैं। अतएव वे बिना किसी चिह्न को छोड़ विलीन हो जाते हैं अर्थात् उनका नाम-निशान कुछ नहीं रह जाता है।

'**निदिध्यासन**' करने की विधि निम्न-लिखित है—

आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, ज्योतिर्ज्वलति ब्रह्माहमस्मि। योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि। अहमेवाहं मा जुहोमि स्वाहा॥

यह '**विशेषार्घ्य**' मुझमें निवास करनेवाली '**चेतना**' है। वह '**चैतन्य**' स्वयं-प्रकाश है। वह प्रकाश-मय '**ब्रह्म**' मैं हूँ। मेरी '**शुद्ध आत्मा**' में '**जीव-भाव**' आरोपित किया गया है। ये सब '**अज्ञान**' के कारण हैं और जब इस प्रकार का '**अज्ञान**' ज्ञान के द्वारा दूर हो जाता है, तब पूर्व-काल से विद्यमान '**ब्रह्म-भाव**' प्रकाशित हो जाता है। '**ब्रह्म-भाव**' फिर से पैदा नहीं होता, किन्तु पूर्व-काल से ही विद्यमान रहता है। मैं पहले '**ब्रह्म**' था, अब भी '**ब्रह्म**' हूँ और मैं सर्वदा '**ब्रह्म**' रहूँगा। '**अध्यासित**' दृश्य-रूप को (दिखाई देनेवाला रूप केवल अध्यास-मात्र है, सत्य नहीं) दूर कर मैं इस '**पात्र**' में स्थित अपनी '**आत्मा**' के साथ अपने को मिला रहा हूँ। इस प्रकार की भावनाओं के साथ उपासक को '**आत्म-पात्र**' ग्रहण करना चाहिए।

❀ ❀

चतुर्थ खण्ड का सार

	पात्र	वासना
१.	**वर्धनी-पात्र**	अपर ज्ञान।
२.	**सामान्यार्घ्य-पात्र**	सामान्य ज्ञान।
३.	**विशेषार्घ्य-पात्र**	विशेष ज्ञान।
४.	**शुद्धि-पात्र**	जीव-भाव।
५.	**गुरु -पात्र**	मनन।
६.	**आत्म-पात्र**	सविकल्पक समाधि।
७.	**बलि-पात्र**	जीवन-मुक्ति-दशा में किसी अनुराग के बिना इन्द्रिय-सुखों को तीन शरीरों के लिए समर्पण कर देना।

❀ ❀ ❀

पञ्चम खण्ड

'अन्तर्याग' से 'लयाङ्ग-पूजा' पर्यन्त

इस खण्ड में निम्न-लिखित विषयों पर विचार किया गया है—

१. **अन्तर्याग—मूर्ति-कल्पना और ध्यान—दश मुद्राएँ।**
२. **आवाहन।**
३. **चतुःषष्ट्युपचार-पूजा।**
४. **चतुरायतन-पूजा—अर्थात् गणपति, सूर्य, विष्णु और शिव की पूजा।**
५. **लयाङ्ग-पूजा।**
६. **षडङ्गार्चन।**
७. **नित्या-देवी-पूजन।**
८. **गुरु-मण्डलार्चन।**

१. अन्तर्याग

'अन्तर्याग' अथवा **'आन्तर पूजा'** — **'अभ्यन्तर'** अथवा **'मानसिक पूजा'** है। यह **'पूजा'** दो प्रकार की है। प्रथम **'साधार'** (आधार-सहित) और दूसरी **'निराधार'** (बिना किसी आधार के)।

पूजा याऽभ्यन्तरा साऽपि, द्वि-विधा परिकीर्तिता।
साधारा च निराधारा, निराधारा महत्तरा।।
साधारा या तु साधारे, निराधारा तु संविदि।
आधारे वर्ण-संक्लृप्ता, विग्रहे परमेश्वरीम्।।
आराधयेदति-प्रीत्या, गुरुणोक्तेन वर्त्मना।
या पूजा संविदि प्रोक्ता, सा तु तस्यां मनोलयः।।
संविदेव परा-शक्तिर्नेतरा परमार्थतः।
अतः संविदि तां नित्यं, पूजयेन्मति-मत्तमः।।

(सूत-संहिता, १. ५. ११-१४)

'प्रतिमा' अथवा **'चक्र'** की कल्पना कर उसमें **'चित्-शक्ति'** का आवाहन करना **'साधार आन्तर पूजा'** कहलाती है। दूसरी ओर **'मन'** के **'आधार'** के

लिए, बिना किसी कल्पना के '**शुद्ध सच्चिदानन्द**' का ध्यान करना '**निराधार आन्तर पूजा**' मानी जाती है। '**पूजा**' के इन दो प्रकारों में से द्वितीय प्रकार अधिकतर श्रेष्ठ है, किन्तु द्वितीय प्रकार की '**पूजा**' के लिए भी प्रथम प्रकार की '**पूजा**' आवश्यक अभ्यास की भूमिका है। अर्थात् प्रथम प्रकार की '**पूजा**' के बिना द्वितीय प्रकार की '**पूजा**' का अभ्यास नहीं हो सकता। अतएव '**पद्धति**' में प्रथम प्रकार की '**पूजा**' का विचार किया गया है।

प्रारम्भ में '**पद्धति**' निम्न प्रकार से कहती है—

एवं निरस्त-निखिल-दोषः सन् आमूलाधारादाब्रह्म बिलं विलसन्तीं विस-तन्तु-तनीयसीं विद्युत्-पुञ्ज-पिञ्जरां विवस्वदयुत-भास्वत्-प्रकाशां परः शत-सुधा-मयूख-शीतल-तेजो-दण्ड-रूपां पर-चितिं भावयेत्।

इसी प्रकार '**सूत-संहिता**' की '**तात्पर्य-दीपिका**' नामक टीका में स्वामी विद्यारण्य कहते हैं—

मूलाधार-मुखोद्गत-बिस-तन्तु-निभ-प्रभा-भावित-सुधा-धारा-विस्तृत-संविदं आवाहनादिभिराराधयेत्।

उपासक को तेजो-दण्ड-रूपा '**मूलाधार**' से लेकर '**ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त**' चमकती हुई कमल-नाल के तन्तु के समान कोमल और सूक्ष्म (पतली) विद्युत्-समूह के समान चमकनेवाली (**विद्युत्-पुञ्ज-पिञ्जरा**) अयुत सूर्यों के समान प्रकाशवाली, सहस्र-चन्द्र-वत् शीतल '**चित्-शक्ति**' का ध्यान करना चाहिए।

'**एवं निरस्त-निखिल-दोषः सन्**'—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की '**पूजा**' करने के लिए वह '**उपासक**' योग्य हो सकता है, जिसका मन '**सत्त्व गुण**' की अधिकता से सम्पन्न हो। केवल '**निर्दोष-मानस**' उपासक ही महती '**चित्-शक्ति**' का ध्यान कर सकता है।

इस प्रकार के '**ध्यान**' करने का भाव यह है कि '**उपासक**' इसका अनुभव करें कि '**चित्-शक्ति**', जो पृष्ठ ९६ पर की गई व्याख्या के अनुसार '**अग्नि, सूर्य**' और '**चन्द्र-मण्डल**' से बने हुए शरीर और विश्व को अभिव्याप्त करती है तथा वह '**चित्-शक्ति**' देदीप्यमान (स्वयं-प्रकाश) है और अप्रकाश-युक्त पदार्थों को भी प्रकाशित करनेवाली है और यह '**चित्-शक्ति**' '**सोमाग्नि, सूर्य-मण्डलों**' से परे ज्योत्स्नालोक में '**महा-प्रकाश पर-शिव**' के साथ एक होकर चमकती है। यह '**समय-मत**' का रहस्य है और इस '**उपासना**' को श्रीशङ्कराचार्य ने '**सौन्दर्य-लहरी**' में प्रकाशित किया है—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुत-वहम्,
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रू-मध्ये सकलमपि भित्वा कुल-पथम्,
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥
(सौन्दर्य-लहरी, ९)

गौड़पादाचार्य ने भी 'सौभाग्योदय' में इसका वर्णन किया है—

ततो गत्वा ज्योत्स्ना-मय-समय-लोकं समयिनाम्,
पराख्या सादाख्या जयति शिव-तत्त्वेन मिलिता।
सहस्रारे पद्मे शिशिर-महसां बिम्बमपरम्,
तदेव श्रीचक्रं सरघमिति तद्-वैन्दवमिति॥

यह 'अन्तर्याग' 'अहं-ग्रहोपासना' का द्योतक है। 'अन्तर्याग' के बिना 'बहिर्याग' करना निस्सन्देह अवैदिक है। 'अन्तर्याग' में 'उपासक' को सबसे पहले अपने 'मन' में 'आत्मा' का उचित रीति से ध्यान करना चाहिए और तदनन्तर 'बाह्य जगत्' में भी 'आत्मा' का अनुभव करना आवश्यक है, जिससे 'अपने में' और 'बाह्य जगत्' में भी 'आत्मा' का अनुभव हो जाए। "योऽन्यां देवतामुपास्ते, न स वेद" अर्थात् जो उपासक 'देवता' को अपने से भिन्न मानकर उसकी 'उपासना' करता है, वह 'उपासना' करना नहीं जानता। यह 'श्रुति-वाक्य' उस 'मूर्त्ति-पूजा' का वर्णन करता है, जो 'देवता' और 'पूजक' (उपासक) के बीच में भेद-भाव का संयोजक है। अतएव 'अन्तर्याग' अत्यन्त आवश्यक है। 'बहिर्याग' के विषय में शास्त्रों का कथन है कि 'उत्तमाधिकारियों' के लिए इसकी (बहिर्याग) की आवश्यकता कदापि नहीं है।

मूर्ति-कल्पना

यह शास्त्रों का निश्चित सिद्धान्त है कि 'उपासक' का 'शरीर, मन और उपभोग-जगत्' उपासक की मिथ्या कल्पना के कारण 'अहं-पद' को व्यक्त करनेवाली 'चित्-शक्ति' के ऊपर अध्यासित हैं। अतः यह आवश्यक है कि 'मन्द, मध्य' और 'उत्तमाधिकारी' अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार 'श्री-चक्र' को 'विश्व, स्थूल शरीर' अथवा 'मन' विचारें।

'शरीर' को 'श्री-चक्र' माननेवाले 'मध्यमाधिकारी' के सम्बन्ध में पद्धति मुख्यतया दर्शाती है कि 'उपासक' को अपनी देह में 'नव-चक्रों की

शक्तियों' की यह कल्पना करनी चाहिए कि वे यथा-क्रम **निम्न सहस्त्रार और** उसके ऊपर '**षट्-पत्रोंवाले विषुव, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, लम्बिकाग्र**' और '**आज्ञा**' में निवास कर रही हैं और वह (उपासक) प्रत्येक '**चक्र**' के सम्मुख बैठा हुआ क्रम-पूर्वक पुष्पाञ्जलि के साथ '**आवरण-देवताओं**' की पूजा कर, उसको (इस प्रकार की पूजा को) '**पर-देवता**' के बाँएँ हाथ में समर्पित कर रहा है। इसके अनन्तर '**उपासक**' को यह ध्यान करना चाहिए कि '**चक्र**' और '**आवरण-देवता**' हृदय में विराजमान '**पर-देवता**' में विलीन हो रहे हैं और वह (**उपासक**) पुष्पाञ्जलि समर्पण करता हुआ '**मध्य-त्रिकोण**' में उसके (**पर-देवता के**) चरण-कमलों की शरण ले रहा है।

इसके पीछे छिपा हुआ गूढ़ सत्य निम्न-लिखित है—

'**अहं**'-पद-निरूपित अर्थ '**पर-देवता**' है और उसका अक्षरार्थ '**जीव**' है। इनका '**विमर्श**' अर्थात् विचार केवल हृदय में ही सम्भव हो सकता है। '**मध्य-त्रिकोण**' '**शुद्ध त्रिपुटी**' के साथ सम्मिलित '**विमर्श-वृत्ति**' का निरूपण करता है। '**पुष्पाञ्जलि**' मानसिक दशा की '**आत्म-गोचर-वृत्ति**' को दर्शाती है और '**पूजा**' का अर्थ '**अतद्वय-वृत्ति**' का '**विधि**' (रीति) द्वारा '**सीमा का विनाश**' है अर्थात् निषेध है। यथा-"वह (**आत्मा**) नहीं है, वह (**आत्मा**) नहीं।"

'**उपासक**' को पुनः '**देवी**' के सामने **पाँच उपचार-देवताओं** का ध्यान कर चन्दन आदि से '**देवी**' की पूजा करनी चाहिए और उसके अनन्तर '**उपचार-देवताओं**' को '**देवी**' में विलीन कर अपने आपको **भगवती के** चरणारविन्दों में विलीन कर देना चाहिए।

पञ्चोपचार-देवता—ये '**पाँच उपचार-देवता**' अमृत के स्वरूप हैं। यह '**अमृत**' वही है, जो '**अकुल-सहस्त्रार**' से निकलकर '**पञ्च-भूतों**' के ऊपर आधिपत्य करता है। इन **पञ्च-भूतों** द्वारा ही '**ब्रह्मानन्द**' का अनुभव होता है। '**पाँच उपचार- शक्तियाँ**', जिनके नाम '**चन्दन, पुष्प, धूप, दीप**' और '**नैवेद्य**' हैं, केवल '**पञ्च-भूत**' हैं। उपभोग-जगत् इन '**पञ्च-शक्तियों**' द्वारा ही बना हुआ है और जब '**भोक्ता जीव**' इनका उपभोग करता है और जो सुख उससे अनुभव किया जाता है, वही '**पर-देवता**' का लक्षण (स्वभाव या चिह्न) है—

पञ्च-रूपिणमात्मानं, दिव्यैः पञ्चोपचारकैः।
अर्पयेत् सह गन्धेन, पृथिवीं कुसुमेन खम्॥
धूपेन वायुं दीपेन, तेजोऽन्नेन रसं पुनः।

(१) सुगन्ध-वत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ् -मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः....... गन्ध समर्पणम्।

(२) सु-शब्द-वत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्-मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः .... पुष्प-समर्पणम्।

(3) सु-स्पर्श-वत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्-मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः .... धूप-समर्पणम्।

(4) सु-रूप-वत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ -मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः .... दीप-समर्पणम्।

(५) स्वादु-रस-वत् पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्-मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः .... नैवेद्य-समर्पणम्।

इन्द्रिय-ग्राम-संग्राह्यै, गन्धाद्यैरात्म-देवता।
स्वाभेदेन समाराध्या, ज्ञातुः सोऽयं महा-मखः॥

(मुख्याम्नाय-रहस्य)

शास्त्रों का सिद्धान्त है कि जब 'ज्ञानेन्द्रियाँ' अपने-अपने विषयों के सुख का अनुभव कर 'परमात्मा' में विश्रान्त हो जाती हैं, तब 'आत्मा' का 'आनन्द' स्वयं प्रकाशित हो जाता है अर्थात् प्रकट होता है। 'इन्द्रिय-विषयों' के पृथक्-पृथक् 'अध्यासों' को दूर करने से 'रूप, शब्द' आदि के 'ज्ञान' को 'शुद्ध ज्ञान' का विचार करना ही 'उपचार-देवताओं' का 'पर-देवता' में विलीन करना है।

जब पञ्च-भूतों से बना हुआ यह विश्व (संसार) 'पर-देवता' में विलीन हो जाता है, तब संसार के पदार्थों को भोगनेवाले 'जीव' का भी लय हो जाता है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि 'जीव-भाव' कहाँ विलीन हो जाता है, तो इसके उत्तर में यही कहा जाएगा कि वह (जीव-भाव) 'पर-देवता' के चरण-कमलों में लीन हो जाता है—

"परिपूर्ण-ध्यानमेव तत्-पादुका-निमज्जनम्।"

सीमाओं के निराकरण करने से जब 'जीव-भाव' तथा जगत् के 'नाम' और 'रूप' दूर कर दिए जाते हैं, तब 'पर-देवता' के मूल 'सच्चिदानन्द'

का अनुभव होता है। इस अवस्था में ही '**आत्मा**' का ज्ञान हो सकता है। '**आत्मा**' के ज्ञाता (**आत्म-ज्ञानी**) को शोक और भ्रम—कुछ नहीं होता।

'**आत्म-ज्ञानी**' को सम्पूर्ण जगत् '**शिव-मय**' प्रतीत होता है। अतएव वह '**आनन्द-स्वरूप**' को ही देखता है। '**सर्व-संक्षोभिणी**' आदि '**दश मुद्राएँ**' इस तथ्य को व्यक्त करती हैं।

दश मुद्राएँ और उनके अर्थ

'**मुद्रा**' की व्युत्पत्ति निम्न-लिखित प्रकार है — "**मुदं (प्रसन्नतां) राति (ददाति) इति मुद्रा**" अर्थात् प्रसन्नता (आनन्द) को देनेवाली। '**ज्ञान**' ही '**चित्-शक्ति**' है और उसी का नाम '**मुद्रा**' है।

यदा विमर्श-शक्तिः विश्व-रूपेण विहर्तुमिच्छति, तदा क्रिया-शक्तिर्भूत्वा स्व-विकार-भूतस्य विश्वस्य पर-चिदानन्द-लक्षणेन मोदमानेन तदैकरस्य-लक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।

'दश मुद्राओं' में से प्रत्येक '**मुद्रा**' का अर्थ निम्न-लिखित है—

मुद्रा	अर्थ
१- **सर्व-संक्षोभिणी**	'**चित्-शक्ति**' के ऊपर अध्यासित '**माया**' द्वारा जगत् की उत्पत्ति।
२- **सर्व-विद्राविणी**	संसार का रक्षण अर्थात् '**पञ्चेन्द्रियों**' द्वारा जगत् का उपभोग।
३- **सर्वाकर्षिणी**	'**सूक्ष्म वासनाएँ**' अथवा इस प्रकार के उपभोग के अनन्तर '**मन**' में स्थित '**संस्कार**'।
४- **सर्व-वशङ्करी**	'**सुख**' और '**दुःख**' के रूप में '**इन्द्रिय**' और '**मन**' के द्वारा अनुभूत विषयों का '**परमात्मा**' में विलापन।
५- **सर्वोन्मादिनी**	सांसारिक विषयों के '**दोष-परिज्ञान**' से विरक्त होकर उनकी (विषयों की) सम्पूर्ण क्रियाओं से रहित होना।
६- **सर्व-महाङ्कुशा**	'**धारणा**' अथवा पूर्व-संयोगों से प्रायः विपथ पर जानेवाले नियमित '**मन**' का अधिक नियन्त्रण।
७- **खेचरी**	अखण्डाकार-वृत्ति।

मुद्रा	अर्थ
८- सर्व-बीजा	संसार के उत्पादक, पालक तथा प्रकाशक '**आत्मा**' का ज्ञान।
९- सर्व-योनि	'**जीव**' और '**ब्रह्म**' की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव।
१०- सर्व-त्रिखण्डा	'**जीवन्मुक्ति**'-दशा में जगत् को '**प्रकाश**' और '**विमर्श**' की प्रकृति तथा '**आनन्द-मय**' अनुभव करना।

'**पर-देवता**' के '**सहस्त्र-नामों**' में से एक नाम '**दश-मुद्रा- समाराध्या**' है अर्थात् '**चित्-शक्ति**' का पूजन मन की दश अवस्थाओं का निरूपण करनेवाली उपर्युक्त '**दश मुद्राओं**' द्वारा होता है—यही इस नाम का अर्थ है।

'**सुषुप्ति**'-अवस्था में '**जाग्रत्**' होना ही जगत् का निर्माण करना है। यह '**सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा**' है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जगत् के अनुभव की दशा '**सर्व-विद्राविणी मुद्रा**' है। अनुभूत विषयों की स्मृति '**सर्वाकर्षिणी मुद्रा**' है तथा सांसारिक विषयों के उपभोग का निरूपण करनेवाली '**सर्व-वशङ्करी मुद्रा**' है। वैराग्य '**सर्वोन्मादिनी**', आत्मा का ध्यान '**सर्व-महाङ्कुशा**', मनन '**सर्व-खेचरी**', निदिध्यासन '**सर्व-बीजा**', सविकल्प समाधि '**सर्व-योनि-मुद्रा**' और जीवन-मुक्त-दशा '**सर्व-त्रिखण्डा मुद्रा**' है। इन '**मुद्राओं**' के विषय में यह तथ्य ज्ञाताओं की सम्मति है क्योंकि '**चित्-शक्ति**' उपर्युक्त '**दश अवस्थाओं**' में से '**प्रत्येक अवस्था**' में विद्यमान है। अतएव '**प्रत्येक अवस्था**' उचित (अनुकूल) '**ज्ञान**' को ग्रहण करती है। जब इस प्रकार से '**विरोध ज्ञान**' में भेद पैदा करनेवाली विशेषताएँ भुला दी जाती हैं, तब '**शुद्ध ज्ञान**' अवशिष्ट रह जाता है। यह '**निर्विशेष ज्ञान**' है और यही '**पर-देवता**' का स्वरूप है। अतएव यह ऊपर कहा जा चुका है कि '**पर-देवता**' मुद्राओं के रूप में स्थित है। '**ज्ञानी**' किसी दशा में भी रहे, वह '**आनन्द**' का अनुभव करता ही रहता है और इन दशाओं में से प्रत्येक दशा में '**शाम्भवी स्फुरण**' अथवा '**शिव-सान्निध्य**' का ज्ञान होता है—

सा शाम्भवी स्फुरतु, काऽपि मामप्यवस्था।
यस्यां गुरोश्चरण-पङ्कजमेव लभ्यम्॥

(श्रीविद्या-सपर्या-पद्धति, पृष्ठ ११३)

'**मुद्रा**' के तथ्य पर इस प्रकार विचार करने के अनन्तर कुछ काल-पर्यन्त '**उपासक**' को अपनी '**अन्तरात्मा**' में अपने '**व्यक्तित्व के साथ निमग्न**' हो जाना चाहिए। इसके अनन्तर '**पर-देवता**' से प्रेरित होकर '**उपासक**' पुनः अपनी साधारण '**चेतना**' को प्राप्त कर '**सर्व-व्यापक मनोवृत्ति**' द्वारा अनुभव करता है कि समस्त पदार्थों में '**जीवन-शक्ति**' प्रदान करनेवाली '**आत्मा**' तथा '**पर-शिव**' से अभिन्न '**चित्-शक्ति**' सर्वत्र विद्यमान है। '**उपासक**' को यह समस्त जगत् '**चित्**' दीखता है, जिसे वह '**उपासक**' अपनी इन्द्रियों द्वारा निश्चित कर सकता है। इस प्रकार से निश्चित विश्व, '**चित्-शक्ति**' का शरीर है, जो (विश्व) '**चित्-शक्ति**' की स्वतन्त्र इच्छा और प्रसन्नता से प्राप्त है। यही '**अमृत-चैतन्य**'-मूर्ति है। '**उपासक**' को इसका ध्यान कर '**पूजा**' के लिए '**विन्दु-पात्र**' में इसकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

२. आवाहन

सच्चिदानन्द-स्वरूप '**चित्-शक्ति**' के ऊपर अध्यासित इन्द्रिय-विषयों का ज्ञान '**आवाहन**' है। '**विन्दु-पीठ**' में स्थित '**प्रकाश-शक्ति**' अथवा '**निर्विशेष ब्रह्म—कामेश्वर**' की जङ्घा में स्थित '**पर-देवता**' का ध्यान करना आवश्यक है। '**बिन्दु-पीठ**' मन है। '**शरीर**' अथवा '**विश्व**' तथा '**श्री-चक्र**' के पीछे छिपी हुई '**सत्यता**'—इन तीन स्वरूपों में '**प्रत्यगात्मा**' से अभिन्न '**शिव**' स्थित है। यहाँ पर "**प्रत्यगात्मा**"-शब्द '**कूटस्थ**' का निरूपण करता है, जो (कूटस्थ) '**अहं**' पद का लक्ष्यार्थ है और '**शिव**' ब्रह्म है। यह महान् रहस्य है कि '**कूटस्थ**' ही '**चित्-शक्ति**' है।

'**श्री-चक्र**' की '**वासना**' का निरूपण विस्तार के साथ आगे किया जाएगा।

३. चतुःषष्ट्युपचार-पूजा

'**उपचार**'-शब्द का अर्थ '**निकट रहना**' है (पर-शिव '**आत्मा**' से भिन्न नहीं है)। **उप = समीपे, चारः=सञ्चारः— इति उपचारः**। सर्व-व्यापी '**पर-शिव**' के लिए कोई स्थान दूर और निकट नहीं हो सकता, किन्तु यहाँ पर '**निकट**'-शब्द का प्रयोग '**उपासक**' की '**प्रारम्भिक अवस्थाओं**' की दृष्टि से किया गया है, जो (उपासक) '**काल, स्थान**' और '**उद्देश्य**' की सीमाओं से व्याप्त है। धीरे-धीरे अपने मन से '**नाम**' और '**रूप**' के विचारों का नाश कर देने से '**उपासक**' क्रम-क्रम से निगूढ़ '**अस्ति-भाति-प्रिय**

सच्चिदानन्द' का अनुभव करता है और 'आत्मा' के निकट पहुँचता है। 'उपचार' का वास्तविक अर्थ 'आत्म-गोचर-वृत्ति' है—

भावनायाः क्रिया-उपचारः (भावनोपनिषद्)।

उक्तायाः स्वात्म-भेदेन ललिता-भावनायाः क्रियाः पुनः पुनः करणानि धारा-वाहिन्यो भावना इति यावत्। (भास्कर राय टीका)

यदि 'उपासक' अपनी समस्त 'मानसिक' तथा 'शारीरिक' क्रियाओं से केवल 'आत्म-चिन्तन' करता है, तो उक्त क्रियाएँ यथार्थ में आत्माभिन्न 'चित्-शक्ति' के उपचारों में परिणत हो जाती हैं।

'उपचार' -शब्द का शास्त्रोक्त अर्थ 'उचित उपहार' (भेंट) आदि से एक प्रकार की 'आदर-पूर्वक पूजा' है। कुछ शास्त्र इस प्रकार के 'उपचारों' की संख्या पाँच, कुछ षोडश और शेष चौंसठ बतलाते हैं। 'पञ्चोपचार'—चन्दन, पुष्पादि प्रथम वर्णित किए गए हैं। 'चतुषष्ट्युपचार' 'श्रीविद्या-पूजा-पद्धति' में यथा-क्रम गिनाए गए हैं। 'षोडशोपचारों' का तर्णन उपनिषदों में तथा अन्यत्र बहुत प्रकार से किया गया है। 'षोडशोपचारों' का गूढ़ार्थ, जो 'भावनोपनिषद्' की टीका में विस्तृत रूप से व्याख्यात है, इस पुस्तक के ३५-३६ पृष्ठों पर पूर्णतया दिया गया है। 'ब्राह्मणोपनिषद्' में 'षोडशोपचार-मण्डल' का अर्थ निम्न-लिखित है—

निश्चिन्ता 'ध्यानम्' सर्व-कर्म-निराकरणं 'आवाहनम्'। निश्चय ज्ञानं 'आसनम्'। उन्मनी-भावः 'पाद्यम्'। सदाऽमनस्कं 'अर्घ्यम्'। सदा दीप्तिरपारामृत-वृत्तिः 'स्नानम्'। सर्वात्म-भावना 'गन्धः'। दृक्-स्वरूपावस्थानं 'अक्षताः'। चिदाप्तिः 'पुष्पम्'। चिदग्नि-स्वरूपं 'धूपः'। चिदादित्य-स्वरूपं 'दीपः'। परिपूर्ण-चन्द्रामृतस्यैकीकरणं 'नैवेद्यम्'। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्'। सोऽहं भावो 'नमस्कारः'। मौनं 'स्तुतिः'। सर्व-सन्तोषो 'विसर्जनम्'।

अतः यह प्रत्यक्ष है कि वास्तव में 'उपासक' को उपरि-निर्दिष्ट प्रकार से 'आत्मा' की प्राप्ति करानेवाली 'मनोवृत्तियाँ' (चित् की अवस्थाएँ) ही 'उपचार' हैं।

४. चतुरायतन-पूजा

'आयतन' का अर्थ 'निवास' है। अतः 'चित्-शक्ति' समस्त पदार्थों में, निखिल प्राणियों में तथा मनुष्य, देवता आदि भिन्न-भिन्न श्रेणियों के सब जीवों में निवास करती है, अतः 'सम्पूर्ण विश्व' उसका 'आयतन' है।

उनकी (सबकी) '**शक्ति, उपयोगिता**' तथा अन्य '**गुण**' भिन्न प्रकार और भिन्न कोटि के हैं। अतएव '**उत्कृष्ट**' और '**निकृष्ट**' का भेद पैदा हो जाता है। ये श्रेणी-गत विभिन्नताएँ (भेद-भाव का दर्जा) केवल '**मन**' की कल्पनाएँ हैं। '**एकोऽपि आत्मा बहुधा सम्बभूव**। '**एकं सद्-विप्रा बहुधा वदन्ति**'। '**एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति**'—इन श्रुतियों के अनुसार '**आत्मा**' से अभिन्न केवल एक '**चित्-शक्ति**' अनन्त हो जाती है। विविध प्रकार से बने हुए इस '**विश्व**' में '**शुद्ध सत्त्व-प्रधान**' गुणवाले शक्ति-सम्पन्न '**देवता**' निश्चय से '**पूजा**' के योग्य हैं। पुनः इन सब '**देवताओं**' में '**गणपति, सूर्य, शिव**' और '**विष्णु**'—ये चार सर्व-प्रधान '**देवता**' हैं और '**उपासक**' को इनकी पूजा करनी चाहिए।

परमेश्वर ने '**वेदों**' को जीवों (मनुष्यों) के लिए वितीर्ण किया है और '**वेदों**' में विहित '**ब्रह्म-काण्ड**' अथवा '**ज्ञान-काण्ड**' की व्याख्या करने के लिए **महर्षि वेदव्यास** ने '**अष्टादश पुराणों**' की रचना की है। इन '**अठारह पुराणों**' में कुछ पुराण '**शिव**' को, कुछ '**विष्णु**' को, कुछ '**गणपति**', '**देवी**' और '**सूर्य**' को '**उपास्य**' (पूजा करने के योग्य) '**देव**' मानते हैं। '**उपास्य**' अथवा अर्चा के योग्य केवल एक '**परमेश्वर**' है। वह अपने आप '**गणपति, सूर्य, शिव, विष्णु**' और अन्य '**देवों**' के '**नाम**' और '**रूप**' को धारण करता है। चैतन्य-दृष्टि से ये '**देव**' एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जिज्ञासु '**उपासक**' के लिए इस प्रकार का '**अद्वैत-भाव**' नितान्त आवश्यक है और इस कारण ही केवल यह '**पञ्चायतन-पूजा**' अथवा '**देवी**' और चार—'**शिव, विष्णु**' आदि '**देवताओं**' की अर्चा '**अद्वैत-मतावलम्बियों**' के लिए आदिष्ट की गई है (**शङ्कर-विजय, १५वें सर्ग की टीका**)—

अद्वैत-विद्यया युक्ताः, पञ्च-पूजा-रताः सदा।
भवतेत्युदिताः सर्वे, गुरु-पादाम्बुजे रताः॥

'**शक्ति-शास्त्र**' स्वीकार करते हैं कि सब '**देवता**' **चित्-शक्ति** की '**रश्मियाँ**' (किरण) हैं। अतएव '**गणपति, सूर्य, विष्णु**' और '**शिव**' के नाम और रूप के ज्ञानाभाव के अनन्तर (नाम और रूप को भुलाने के पश्चात्) '**अधिष्ठान-सत्ता, चित्-शक्ति-निरीक्षण**' करना (समझना) '**पञ्चायतन-पूजा**' का सर्वोच्च निष्कर्ष है—अर्थात् '**नाम**' और '**रूप**' के भेद-भाव को भुला देने से '**गणपति**' आदि चार '**देवताओं**' को '**अधिष्ठान-सत्ता, चित्-शक्ति**' समझना ही '**पञ्चायतन-पूजा**' का असली तत्त्व है।

टिप्पणी—(अ) समस्त देवताओं के '**नाम**' और '**रूप**' के पीछे '**आत्मा**' अथवा '**ब्रह्म**' से अभिन्न '**चित्-शक्ति**' का उक्त प्रकार ध्यान करना '**स्व-प्रधान उपास्ति**' कहा गया है। '**उपास्ति**' अथवा पूजा '**स्व-प्रधान, सम-प्रधान**' और '**अ-स्व-प्रधान**' भेद से तीन प्रकार की है—

१. '**नाम**' और '**रूप**' के अभाव में '**आत्मा**' से अभिन्न '**ब्रह्म**' की आवश्यक '**सत्ता**' की प्राप्ति के अनन्तर जो '**उपासना**' की जाती है, वह '**स्व-प्रधान उपास्ति**' के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपासना '**उत्तमाधिकारियों**' के लिए है और इसका नाम '**परा-पूजा**' भी कहलाता है।
२. '**सम-प्रधान उपास्ति**' वह '**उपासना**' है, जिसमें अध्यासित '**नाम**' और '**रूप**' तथा '**अधिष्ठान-सत्ता**'—इन सबको समान महत्त्व प्रदान किया जाता है अर्थात् तीनों बराबर समझे जाते हैं। यह उपासना '**मध्यमाधिकारियों**' के लिए है। इसको '**परापरा-पूजा**' भी कहते हैं।
३. '**अ-स्व-प्रधान उपास्ति**' वह '**उपासना**' है, जिसमें केवल '**नाम**' और '**रूप**' ही आवश्यक माने जाते हैं और उनमें विलीन वास्तविकता भुला दी जाती है अर्थात् उसका ज्ञान ही नहीं होने पाता। यह '**उपासना**' '**अधमाधिकारियों**' के लिए है। इसको '**अपरा-पूजा**' भी कहते हैं।
इस बात को निश्चित करना नितान्त आवश्यक है कि यद्यपि '**स्व-प्रधान उपास्ति**' में ३३ करोड़ और इससे भी अधिक देवताओं की '**पूजा**' करना है, तथापि '**पूजा**' का उद्देश्य केवल एक '**चित्-शक्ति**' है। अन्त में वह भी '**उपासक**' से भिन्न नहीं है। अर्थात् '**उपासक**' स्वयं '**चित्-शक्ति-स्वरूप**' है।

टिप्पणी—(ब) '**पञ्चायतन-पूजा**' का सार शास्त्रों में दूसरे प्रकार से भी वर्णित किया गया है।

गणपति—गणों के अधिपति (स्वामी) अथवा '**गण**' का अर्थ '**चौदह लोकों का समूह**' है, जिसमें '**जड़**' और '**चेतनों**' का वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार का '**आधिपत्य**' (गाणपत्य) **दिव्य ऐश्वर्यों** में से एक है।

'**सूर्य देवता**' में जगदुत्पादन की शक्ति है।

'**विष्णु देवता**' में जगत्-पालन की शक्ति है।

'**रुद्र देवता**' में संहार करने की शक्ति है।

'**देवी-ज्ञान-शक्ति**'—आध्यात्मिक ज्ञानाभाव के समय में अद्भुत पदार्थ '**ज्ञान**' तथा '**ज्ञान के समय**' में (प्रवृत्ति-विषय में) यथार्थ का ज्ञान है।

इस प्रकार ऊपर के '**पाँच आयतन**' (पञ्चायतन) केवल '**चित्-शक्ति**' के रूप में ही समझने चाहिए, जो (**चित्-शक्ति**) '**ब्रह्म**' अथवा '**आत्मा**' से भिन्न नहीं है। यह '**पञ्चायतन-पूजा**' उपासक की '**अद्वैतता-प्राप्ति**' को बढ़ाती है।

५. लयाङ्ग-पूजा

'**लयाङ्ग**' का अर्थ है कि जो '**अङ्ग**' (अवयव) '**अवियुक्तता**' से अर्थात् '**समवाय-सम्बन्ध**' से '**अङ्गी**' में विलीन हो सकें। यह '**लयाङ्ग**' का सम्बन्ध इस प्रकार के '**शब्द, अर्थ, काल**' और '**देश**'—इन चार '**अङ्गों**' से है तथा '**श्री-चक्र**' में '**लयाङ्ग-पूजा**' निम्न-लिखित प्रकार से अर्थात् '**श्रीचक्र**' के '**बिन्दु, त्रिकोण**' और '**गुरु -मण्डल**' (सबसे आभ्यन्तरिक '**त्रिकोण**' के पूर्व-वर्ती **तीन रेखाएँ**)—इन तीन स्थानों में करनी चाहिए।

'**श्रीचक्रान्तर्विन्दु**' में '**कामेश्वर**' और '**कामेश्वरी**' केवल '**ब्रह्म**' और '**आत्मा**' अथवा '**प्रकाश**' और '**विमर्श**' हैं। यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है कि '**शिव-शक्ति-सामरस्य**' अथवा '**प्रकाश**' और '**विमर्श**' विश्व की कारण '**काम-कला**' है। '**काम-कला**' '**जगत्, जीव**' और '**पर**' का सूक्ष्म समुदाय (समूह) है। इस समुदाय से ही '**चक्र**' का '**त्रिकोण-चक्र**' बना है। यह '**त्रिकोण चक्र**' '**अव्यक्त, महत्**' और '**अहङ्कार**' तत्त्वों का निरूपक है। यह '**परा, पश्यन्ती**' और '**मध्यमा**' की '**प्रकृति**'—'शब्द' का निरूपण (प्रतिमूर्ति) है। वास्तव में इस संसार में जितनी वस्तुएँ '**त्रिक्**' में विद्यमान हैं अर्थात् जिन-जिन वस्तुओं का '**त्रितय**' है, वह '**त्रयी**' (त्रिक्) इस '**त्रिकोण**' से ही पैदा हुई है। '**पुर्यष्टक**' की प्रतिमूर्ति '**अष्ट-कोण त्रिकोण**' से ही पैदा हुई है। इसी प्रकार अपने-अपने कार्यों के साथ प्राणादि '**पाँच वायु**' और नाग, कूर्मादि '**पाँच उप-वायुओं**' से '**अन्तर्दशार**' और '**बहिर्दशार चक्र**' की रचना हुई है। **चतुर्दश नाड़ियों** से '**मन्वस्त्र**' बना है। **पञ्च कर्मेन्द्रियों** के भाषण आदि **पञ्च कार्य, त्याग, ग्राहक** और **उपेक्षा-बुद्धि**—इन **आठों** द्वारा '**अष्ट-दल-कमल**' तथा **पृथिव्यादि पञ्च-भूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय** तथा **मन—षोडश वस्तुओं** से '**षोडश-दल-कमल**' का निर्माण हुआ। **नियति** के साथ **शृङ्गारादि नव रस, काम-क्रोधादि षड्-रिपु, पुण्य, पाप मूलाधारादि नौ आधार** तथा उनका योग, जो सब मिलकर **अट्ठाइस** होता है, '**भूपुर**' की रचना करता है। '**श्री-चक्र**' का उपर्युक्त प्रकार '**भावनोपनिषद्**' के अनुसार है। इस प्रकार हमें विदित होता है कि '**बिन्दु-**

चक्र' से '**भूपुर**' –पर्यन्त '**नौ चक्र**' संसार की सृष्टि अथवा **जीव और शरीरों के उपभोग–विषयों** का अथवा उपभोगों के निवास और उपकरणों (सामग्रियों) का निरूपण करते हैं—

> **बिन्द्वादि भूपुरान्तानि, नव–चक्राणि भैरवि!**
> **ईक्षणादि प्रवेशान्ता, सृष्टिरीशेन निर्मिता॥**
> **चतुरस्त्रादि–बिन्द्वन्त–नव–चक्राणि सुन्दरि!**
> **जाग्रदादि–विमोक्षान्तः, संसारो जीव–कल्पितः॥**

उपर्युक्त '**शिव–दृष्टि**' के उद्धरण दर्शाते हैं कि '**बिन्दु**' से '**भूपुर**'–पर्यन्त '**नौ चक्र**' ईश्वर–सृष्टि अथवा परमात्मा की सृष्टि का निरूपण करते हैं। यही बात "**स ईक्षत बहु स्यां प्रजायेय. . . .तत्–सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**" इत्यादि '**वेद–वाक्यों**' से निर्दिष्ट की जाती है।

'**जाग्रत् अवस्था**' से '**मोक्षावस्था**'–पर्यन्त कई अवस्थाओं का निरूपण करनेवाले '**भूपुर**' से '**बिन्दु**'–पर्यन्त '**नौ चक्र**' केवल '**जीव**' की ही कल्पनाएँ हैं। अज्ञान से आवृत '**जीव**' अपने को पृथक् समझता है और संसार को अपना जानकर '**जन्म**' और '**मृत्यु**' को प्राप्त होता तथा '**जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तावस्थाओं**' का बार–बार अनुभव कर पुनः '**दुःख**' का अनुभव करता है। '**जीव**' का यह अनुभव '**जीव–सृष्टि**' कहलाती है। '**सुख**' और '**दुःख**' ईश्वर–कृत नहीं हैं। यह केवल '**जीव**' की रचना है। यह रचना '**रज्जु**' में '**सर्प**' की कल्पना (भ्रान्ति) के समान है।

ठीक जिस प्रकार '**सर्प**' की '**मायिक**' आकृति '**रज्जु**' के यथार्थ ज्ञान से विनष्ट हो जाती है, उसी प्रकार '**मैं**' और '**मेरा**' इत्याकारक '**मायिक विचार**' तथा '**सुख**' और '**दुःख**' सत्य–ज्ञान के उत्पन्न होने पर विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार का ज्ञान '**तत्त्व–ज्ञान**' अथवा '**ब्रह्म–विद्या**' कहलाता है, जो '**अन्तरालोकनीय**' (मानसिक) विश्लेषण (विभाग) द्वारा उत्पन्न होता है और यह विभाग–विश्लेषण '**भूपुर**' से '**बिन्दु–पर्यन्त**' '**नव चक्रों**' द्वारा निरूपित (प्रदर्शित) किया गया है। क्या इस पक्ष में यह पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि '**श्री–चक्र**' केवल '**मन**' है और यह मन '**जीव–सृष्टि**' का उत्तर–दायक है।

जिस प्रकार विचार के अभाव में '**जड़**' और '**चेतन**'–मय संसार को '**ईश्वर**' –निर्मित मानते हैं, उसी प्रकार यह कथन भी है कि बिना किसी उचित जिज्ञासा के '**श्री–चक्र**' स्थूल और सूक्ष्म जगत् का निरूपण करता है। अन्वेषण करने पर यह माना गया है कि **यथार्थता** में सम्पूर्ण जगत् '**चित्**' है।

पृथकता के भाव के कारण '**मैं**' और '**मेरा**' —यह भाव तथा '**सुख**' और '**दुःख**' त्रिगुणात्मिका '**अविद्या**' द्वारा जीव की अपनी ही सृष्टि है तथा इस प्रकार के '**मोह**' के लिए '**मन**' आदि कारण हैं (**मनीषा-पञ्चक**)—

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च, सकलं चिन्मात्र-विस्तारितं।
सर्वं चैतदविद्यया, त्रिगुणया सेशं मया कल्पितम्॥

'**योग-वाशिष्ठ**' भी कहता है कि—'**जगत् सङ्कल्प है और सङ्कल्प ही जगत् है?**' जिस प्रकार समीक्षण करने पर सम्पूर्ण जगत् **मनो-मय** विदित होता है, उसी प्रकार '**श्री-चक्र**' भी ध्यान करने पर **मनो-मय** सिद्ध होता है। इस विषय का वर्णन, भूमिका के '**चक्र-सङ्केत**' नामक शीर्षक में पहले ही किया जा चुका है। यहाँ पर इसकी चर्चा प्रसङ्ग-वश पुनः की गई है।

अब हम प्रस्तावित विषय की ओर आते हैं। '**अङ्ग**' और '**अङ्गी**' के कथन से **कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध** निर्दिष्ट किया गया है। यह **जगत्** जो कि **कार्य** है, '**शब्द**' (ध्वनि) और '**अर्थ**' (नाम और रूप) से बना हुआ है। '**सदैव सौम्य! इदमग्र आसीत्**' और '**नात्र काचन भिदास्ति**'—इन '**वेद**'-मन्त्रों द्वारा भी **जगत्-निर्माण-कथन** में '**काल**' और '**देश**' का निरूपण किया गया है। इस प्रकार '**अङ्गी**' '**चित्-शक्ति**' से **शब्द, अर्थ, काल** और **देश** अङ्ग-सत्ता में आए। इस प्रकार का चिन्तन ही '**लयाङ्ग-पूजा**' से निरूपित किया गया है। **देश, काल** और **अर्थ** '**माया**' (अविद्या) से उत्पन्न हुए और '**शब्द**' '**विद्या**' से उत्पन्न हुआ है।

'**पूजा-पद्धति**' के अनुसार '**तीन उपहार**' अथवा '**यजन**'—'**बिन्दु**' में समर्पण करने को कहे गए हैं। इन **तीन उपहारों** से तीन पृथक्-पृथक् **ध्यानों** का निरूपण होता है। इनमें से प्रथम '**प्रकाश और विमर्श के सामरस्य**' का ध्यान है, द्वितीय '**काम-कला का ध्यान**' और तृतीय '**चित्-शक्ति का ध्यान**' है। '**चित्-शक्ति**' ही संसार की कारण है और अज्ञान के कारण '**चित्-शक्ति**' के ऊपर संसार का अध्यास है। तीसरा ध्यान पूर्णतया वास्तविकता का वह वर्णन नहीं करता, अतएव इस सम्बन्ध में '**लयाङ्ग-पूजा**' का विधान किया गया है।

६. षडङ्गार्चन

'**पर-देवता**' के रूप के साथ **१. हृदय, २. शिर, ३. शिखा, ४. कवच, ५. नेत्र** और **६. अस्त्र**—ये छः अङ्ग हैं। समस्त निर्मित पदार्थ (अर्थ) इस रूप में विलीन हो जाते हैं।

७. नित्या देवी पूजन

नित्या देवियों का अर्चन (यजन) '**त्रिकोण**' तथा '**बिन्दु**' में किया जाता है। '**पञ्च-दश-तिथि-रूपेण कालस्य परिणामावलोकनम्**'— '**भावनोपनिषद्**' के उक्त वाक्य के अनुसार **पञ्च-दश नित्या देवियाँ** (नित्याएँ) '**काल**' का निरूपण करती हैं और '**काल**' '**देश**' का निरूपण करता है। '**देश**' और '**काल**'—ये दोनों नित्य-सम्बन्धी (अविभेद्य) हैं। यही शास्त्रों का निश्चित सिद्धान्त है। '**भूमिका**' में इस विषय का पूर्णतया वर्णन किया गया है। अत: '**नित्या-यजन**' उस **ध्यान** का निरूपण करता है, जिसमें '**अङ्ग, काल**' और '**देश**' अङ्गी **महा-नित्या** में विलीन हो जाते हैं। इस बात का समर्थन '**वहृवृचोपनिषद्**' की निम्न पंक्ति भी करती है—

'**देश-काल-वस्त्वन्तरासङ्गान् महा-त्रिपुर-सुन्दरी वै प्रत्यक्-चिति:**'।

८. गुरु-मण्डलार्चन

'**गुरु-मण्डलार्चन**' शब्द-नाम से विख्यात **अङ्ग का ध्यान** (चिन्तन) करना है। अर्थात उस '**अङ्ग**' का ध्यान करना है, जो कि '**शब्द**'-नाम से विदित है। '**गुरु**' अज्ञान के परिमार्जन (प्रक्षालन) और ज्ञान की प्राप्ति का निरूपक है। '**ज्ञान**' के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु से भी '**अज्ञान**' का उच्छेदन नहीं हो सकता। यह '**ज्ञान**' परोक्ष तथा अपरोक्ष-भेद से दो प्रकार का है। यहाँ पर '**ज्ञान**' से केवल '**ब्रह्म-ज्ञान**' अथवा '**आत्म-ज्ञान**' का ग्रहण किया जाता है। '**ब्रह्म**' अथवा '**आत्मा**' केवल वैदिक प्रमाण द्वारा जाना जा सकता है। '**प्रत्यक्ष**' आदि प्रमाण '**आत्म-ज्ञान**' के सम्पादक नहीं हैं। इसलिए '**गुरु**' का सर्वोत्तम निरूपण '**आत्मा**' और '**ब्रह्म**' के स्वभाव (प्रकृति) की एकता की शिक्षा देनेवाले '**महा-वाक्य**' के स्वरूप में '**शब्द**' है। इस प्रकार '**गुरु-मण्डल**' की पूजा से हमें '**पर-देवता**' के सम्बन्ध में विचार करने पर यह अवगत हुआ कि वह '**विश्व**' का कारण है। इस भाव के साथ यह भाव भी समन्वित किया गया है कि वह '**पर-देवता**' **गुरु-मण्डल** अथवा '**ज्ञान के संसार**' (ज्ञानोत्पादक) शब्द की भी कारण है। अर्थात् '**विश्व**' और '**गुरु -मण्डल**' अथवा ज्ञान को पैदा करनेवाले '**शब्द**' की कारण भी '**पर-देवता**' है।

अत: जगत् की कारण—'**पर-देवता**' के ध्यान में निम्न-लिखित **तीन भावनाएँ** (विचार) मुख्य अङ्ग हैं। प्रथम कि वह (**पर-देवता**) '**अर्थ**' अथवा '**रूप**' के साथ '**षडङ्गार्चन**' से निरूपित समस्त पदार्थों की, '**नित्या-**

देवियों' के यजन से निरूपित '**देश**' और '**काल**' की तथा '**गुरु -मण्डलार्चन**' से निरूपित '**शब्द-जगत्**' की कारण है।

दुर्वासा के '**सौभाग्य-चिन्तामणि**'—कल्प के अनुसार '**वशिन्यादि**' आठ देवता (**अष्ट-कोण-देवता**) की पूजा भी '**लयाङ्ग-पूजा**' में सम्मिलित की गई है। ये '**देवता**' समस्त '**शास्त्र**' अथवा '**शब्द**' का निरूपण करनेवाली '**देवियाँ**' हैं, अत: '**लयाङ्ग-पूजा**' में इनका परिगणन भी आवश्यक है।

'**षडङ्गार्चन**' **बिन्दु** में और '**नित्या-देवियों**' का पूजन **बिन्दु** और **त्रिकोण** में तथा '**गुरु- मण्डल**' का अर्चन **बिन्दु, त्रिकोण** और **पूर्व की ओर तीन पंक्तियों** में किया जाना चाहिए। उपासक के '**बिन्दु**' और '**त्रिकोण**' में '**परौघ**' तथा **ओघ-त्रय**—'**दिव्य, सिद्ध**' और '**मानवौघ**' का '**गुरु-मण्डल**' की **तीन पंक्तियों** में पूजन करना चाहिए। इसके अनन्तर उपासक को '**तीन रेखाओं**' में '**गुरु** ', '**परम गुरु** ' और '**परमेष्ठि गुरु** ' का भी ध्यान करना चाहिए।

❀ ❀

पञ्चम खण्ड का निष्कर्ष

विषय	**वासना**
अन्तर्याग	अहं-ग्रहोपासना।
ध्यान	जीव-भाव का दूरीकरण।
सर्व-संक्षोभिण्यादि मुद्रा	१२०-१२१ पृष्ठों के अनुसार।
आवाहन	समस्त अध्यासों में '**चित्-शक्ति**' का स्वीकार (पहिचान)।
उपचार	आत्म-गोचर-वृत्ति।
चतुरायतन-पूजा	अद्वैतता की उपलब्धि में सहायता।
लयाङ्ग-पूजा	कार्य और कारण का अभेद-चिन्तन।
षडङ्गार्चन	'**चित्-शक्ति**' में अर्थ (रूप) के साथ पदार्थों का निमज्जन।
नित्या देवी-यजन	'**काल**' और '**देश**' का '**चित्-शक्ति**' में लय।
गुरु-मण्डलार्चन	'**शब्द**' का '**चित्-शक्ति**' में विलय(अवगाहन)।

❀ ❀ ❀

षष्ठ खण्ड

इस खण्ड में निम्न-लिखित विषयों का वर्णन किया गया है—

१. नवावरण पूजा।

२. पञ्च-पञ्चिका-पूजा।

३. षड्-दर्शन-विद्या।

४. षडाधार-पूजा।

५. आम्नाय-समष्टि-पूजा।

६. धूप-दीपादिक।

१. नवावरण-पूजा

पहले १२७ वें पृष्ठ पर कहा गया है कि '**सृष्टि-क्रम**' के अनुसार '**श्रीचक्र**' नौ चक्रों से बना है। ये '**चक्र**' '**बिन्दु**' से प्रारम्भ होकर '**भूपुर**' में समाप्त होते हैं। '**श्रीचक्र**' परमेश्वर के बनाए हुए **ब्रह्माण्ड** और **पिण्डाण्ड** का निरूपण करता है। '**पूजा**' के अवसर पर '**संहार-क्रम**' स्वीकार करने की प्रथा है। अतएव चक्र-गणना '**भूपुर**' से '**बिन्दु-चक्र**'-पर्यन्त की जाती है तथा यह माना जाता है कि '**श्री-चक्र**' उक्त '**नवावरणों**' (चक्रों) से घटित है। ३४वें पृष्ठ पर यह भी प्रदर्शित किया गया है कि इस '**पूजा**' में '**श्री-चक्र**' केवल '**मन**' है, जो '**शुद्ध तत्त्व**' की प्रधानता लिए हुए है। '**श्री-चक्र**' का प्रत्येक '**चक्र**' अथवा '**आवरण**' मानसिक दशा का निरूपण करता है तथा '**आवरण-देवता**' अथवा '**चक्र-शक्तियाँ**' मन की वृत्तियाँ हैं। इस विषय पर ही इस खण्ड में विस्तृत विवेचना की गई है।

प्रथम खण्ड के ६१वें पृष्ठ में '**योगिनियों**' को पुष्पाञ्जलि प्रदान करने के समय पर दिखाया गया है कि '**योगिनियों**' का क्या अर्थ है। जो कुछ वहाँ कहा गया है, वह स्मरण करने योग्य है अर्थात् '**योगिनियों**' के '**वर्ग-नवक**' (नौ प्रकार की योगिनियों) से उस '**चित्-शक्ति**' का बोध होता है, जो मन की अनेक वृत्तियों (मनो-वृत्तियों) की अधिष्ठान-सत्ता को बनाती हैं। '**भूपुर**' से लेकर '**बिन्दु-चक्र**' पर्यन्त '**नव-चक्र**' जीव की स्वयं बनाई हुई '**जागृत**' से '**मोक्ष**'-पर्यन्त अनेक दशाओं का निरूपण करते हैं। '**जीव**' की कल्पित ये

दशाएँ ही उसके लिए '**शुद्ध**' और '**अशुद्ध**' संसार बनाती हैं। '**अपवित्र मन**' से बना हुआ '**अशुद्ध संसार**' बन्धन में डालनेवाला है और '**शुद्ध संसार**' सत्त्व-गुणाधिकता-सम्पन्न '**मन**' से '**ज्ञान के अभ्यास**' का निरूपण करता है। यह अभ्यास ही उक्त प्रकार के बन्धनों का उच्छेदक है।

'**चक्र**' किसका निरूपण करते हैं, इसकी विशद व्याख्या करने से पूर्व निम्न-लिखित '**शिव-दृष्टि**' की पंक्तियाँ उद्धृत करने योग्य हैं—

> **भूपुरादि - त्रिभिश्चक्रैर्विश्व - तैजस - प्राज्ञयोः।**
> **धाम-त्रयं विभाव्यं तदूर्ध्वे तत्-पदमैश्वरम्॥**
> **ततो बहिर्दशारे तु, गुरू पसदनं स्मृतं।**
> **अन्तर्दशार-चक्रे तु, श्रवणं च विभावयेत्॥**
> **वसु-कोणे तु मननं, निदिध्यासं त्रिकोणके।**
> **बिन्दौ तु शिव-जीवैक्यं, भावनीयं बुधैः सदा॥**

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्यों को '**भूपुर, षोडश दल**' और '**अष्ट-दल**'—इन '**तीन चक्रों**' में '**जागृत, स्वप्न**' और '**सुषुप्ति**' नामक '**जीव**' की '**शुचिता**' (चेतनता) की तीन दशाओं की भावना करनी चाहिए। उक्त '**दशा-त्रय**' के अधिष्ठाता '**जीव**' के विशेष रूप क्रमशः '**विश्व, तैजस**' और '**प्राज्ञ**' हैं। इन '**तीन चक्रों**' से द्वितीय चक्र—'**चतुर्दशार**' नामक चक्र में '**महा-वाक्य**' में '**तत्पद**' से लक्षित तथा विश्व के कारण '**परमेश्वर**' की, '**बहिर्दशार**' में **गुरु के समीप उपस्थिति** की, '**अन्तर्दशार**' में श्रवण की, '**अष्ट-कोण**' में **मनन** की, '**त्रिकोण**' में **निदिध्यासन** की और '**बिन्दु**' में '**जीव-ब्रह्मैक्य**' (सविकल्प समाधि) की भावना करनी चाहिए।

'**जाग्रत्, स्वप्न**' और '**सुषुप्ति**'-अवस्था के निरूपण करनेवाले '**प्रथम तीन चक्रों**' का अनुभव सर्व-साधारणतया शुद्ध-हृदय मुमुक्षु ही नहीं, अपितु अशुद्ध-मानस सामान्य मनुष्य भी करते हैं। अतः '**ब्रह्माण्ड**' और '**पिण्डाण्ड**' के स्वरूप-वाला तथा '**अन्तःकरण**' (मन) का निरूपक '**श्री-चक्र**' जीवों के पूर्व-जन्मोपार्जित **कर्म-ज्ञान** की प्राप्ति के लिए है। **पूर्व-कर्मों का फल** इन '**तीन अवस्थाओं**' में भोगना पड़ता है। अतएव सब व्यक्तियों को सम-रूप से इन '**अवस्थाओं**' का भोग करना पड़ता है। ये अवस्थाएँ '**अज्ञानावस्था**' कहलाती हैं। '**जीव**' अपने '**पूर्व-कर्मों**' का भोग '**जाग्रत्**' और '**स्वप्नावस्था**' में भोगता है तथा '**सुषुप्तावस्था**' में प्राप्त होकर किञ्चित् काल के लिए

'**अचेतनावस्था**' में '**ब्रह्मानन्द**' का आस्वादन करता है, किन्तु पुनः '**अवशिष्ट कर्म-भोग**' के कारण उन्हीं '**अवस्थाओं**' में पतित हो जाता है। इस प्रकार यह '**जीव**' नियमानुकूल अथवा अनियमानुकूल—इन '**तीन अवस्थाओं**' में प्रति-दिन मृत्यु-पर्यन्त भ्रमण करता रहता है और पुनः उत्पन्न होता है तथा मरता है। इस प्रकार यह '**क्रम**' प्रवर्तित होता रहता है। यही '**शास्त्रों**' का '**निर्णय**' तथा हम सबका अनुभव है।

इस रीति से '**जीवन-मरण के चक्र**' में भ्रमण करता हुआ कोई '**जीव**' विशेष पूर्व-पुण्य-प्रभाव के कारण '**जाग्रत, स्वप्न**' और '**सुषुप्ति**' की '**चक्र-गति**' से पृथक् होने की स्पृहा करता हुआ अनुभव करता है कि इस संसार में उसको और संसार को पैदा करनेवाला '**ईश्वर**' अवश्य होना चाहिए। अतएव वह अपने आप '**ईश्वर और मुझमें क्या सम्बन्ध है?**', '**परमेश्वर कहाँ रहता है?**' तथा '**विश्व और उसमें क्या सम्बन्ध है?**' इत्यादि प्रश्न करता है। '**चतुर्थ चक्र**' इस प्रकर के '**ज्ञान की सीढ़ी**' पर पदार्पण किए हुए उक्त प्रकार के व्यक्ति-विशेष की '**मानसिक दशा**' का निरूपण करता है।

केवल '**परमेश्वर**' ही '**जीव**' का '**अज्ञान**' दूर कर उसे संसार से मुक्त कर सकता है। अतः वह '**मोक्षक**' अथवा '**मोक्ष-प्रद**' कहा गया है—

अशुभ-क्षय-कर्तारं, फल-मुक्ति-प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं, तत्-प्रपद्ये महेश्वरम्॥

(गर्भोपनिषद्)

यद्यपि '**जीव-विशेष**' मोक्षक '**परमेश्वर**' की '**प्रकृति**' के विषय में विचार करता है और उसे ढूँढ़ने का प्रारम्भ भी करता है, तथापि यह असम्भव होगा कि वह '**परमेश्वर**' का यथार्थ ज्ञान बिना '**गुरु**' के प्राप्त कर सके। अतएव '**गुरु**' मोक्ष-प्रद बताया गया है। अतः '**मुमुक्षु**' पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह '**गुरु**' का अवलम्बन करे, जिससे वह (मुमुक्षु) '**परमेश्वर**' का यथार्थ ज्ञान तथा अपना उसके (परमेश्वर के) साथ क्या सम्बन्ध है, यह भी जान सके। '**पाँचवाँ चक्र**' गुरु के अन्वेषण और उसके निकट '**उप-सर्पण**' की दृढ़ अभिलाषा रखनेवाले '**मुमुक्षु**' की '**मानसिक वृत्ति**' का निरूपण करता है। इस प्रकार की '**मानसिक दशा**' में '**गुरु**' की '**यथार्थ प्रकृति**' की '**पहिचान**', उसके समीप जाने की '**आवश्यकता**' और उसकी भक्ति करने का '**परिणाम**'—यह सब सम्मिलित है।

'**षष्ठ चक्र**' '**मुमुक्षु**' की उस '**मानसिक दशा**' का निरूपण करता है, जब वह '**गुरु-कृपा**', '**जीव**' तथा '**ब्रह्म**' की एकता प्रतिपादन करनेवाले '**महा-वाक्योपदेश**' को ग्रहण कर लेता है। इसको '**श्रवण**' कहा गया है। अतः '**चतुर्थ, पञ्चम**' और '**षष्ठ चक्रों**' से यथा-क्रम '**मुमुक्षु**' पुरुष की '**ईश्वर**' और '**गुरु**' की '**भक्ति**' से परिपूर्ण तथा '**गुरूपदेश**' के प्रति '**भक्ति-पूर्वक मनोयोग**' देनेवाली '**मानसिक दशा**' का निरूपण होता है।

'**सप्तम, अष्टम**' और '**नवम चक्र**' यथा-क्रम '**सत्त्व-गुणाधिकता**' से युक्त '**मनन, निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' में निमग्न '**मुमुक्षु**' की '**मानसिक दशाओं**' के निरूपक हैं।

साधारण आवरण

प्रत्येक '**आवरण**' अथवा '**चक्र**' अपनी-अपनी '**प्रकृति**' (मूल) रखता है और वह '**प्रकृति**' भिन्न-रूप तथा उपयुक्त '**नाम**' वाली है। प्रत्येक '**चक्र**' की एक '**चक्रेश्वरी**' अथवा '**अधिष्ठात्री देवता**' है, जो '**आवरण-देवताओं**' तथा '**योगिनियों**' के सपरिच्छद '**परिवार**' से परिवृत्त है तथा एक विशेष '**सिद्धि**' और एक '**मुद्रा**' से युक्त है। प्रत्येक '**आवरण-देवता**' अपना व्यक्तिगत '**नाम**' रखता है, किन्तु '**आवरण**' के सब देवता '**योगिनियों**' के एक विशेष समूह के '**नाम**' से पृष्ठ-६१ के अनुसार प्रसिद्ध हैं। '**मुद्रा**'-शब्द की व्याख्या १२०वें पृष्ठ पर पहले ही की जा चुकी है। ज्ञान और आनन्द-जनक प्रत्येक वस्तु '**दाक्षिण्य**' से '**सिद्धि**' कही गई है। जैसे उक्ति-सादृश्य में लक्षण से '**आयुर्वै घृतम्**' अर्थात् '**घृत ही आयु है**'—कहा जाता है अर्थात् घी आयु का बढ़ानेवाला है।

प्रत्येक '**आवरण**' की '**पूजा**' में १. '**चक्र**' के लिए '**पुष्पाञ्जलि**', २. '**आवरण-देवताओं**' की '**पूजा**' और '**तर्पण**', ३. '**योगिनियों**' के लिए '**पुष्पाञ्जलि**', ४. '**चक्रेश्वरी**' की '**पूजा, तर्पण, सिद्धि**' और '**मुद्रा**', ५. '**देवी**' के लिए '**तीन बार पूजा**' और '**तर्पण**', ६. '**धूप-दीप**' आदि '**उपचार**', ७. बिन्दु-चक्र में '**बिन्दु-तर्पण**' अथवा '**देवी**' के वाम हस्त में '**पूजा-समर्पण**' और ८. '**साष्टाङ्ग प्रणाम**'— इन आठ विषयों का समावेश है।

प्रत्येक '**आवरण**' का विवरण यथा-क्रम पृथक् शीर्षकों के साथ पुस्तक में दी गई तालिका में किया गया है। प्रत्येक '**आवरण**' के लिए विचारावसर पर जहाँ-जहाँ आवश्यकता होगी, उसकी व्याख्या—उसका गूढ़ रहस्य (गूढ़ार्थ) इत्यादि सब कुछ दिया जाएगा।

प्रथमावरण : 'भूपुर'

'लं'—यह **'पृथ्वी-बीज'** प्रथमावरण—**'प्रथम चक्र'** की **'प्रकृति'** है। यह **'बीज'** पञ्च-भूतों का और उनके कार्यों का प्रतिनिधि समझा जाना चाहिए। अतएव यह **'बीज'** **'जाग्रदवस्था'** का निरूपण करता है क्योंकि इस अवस्था में **'स्थूल शरीर'** अथवा **'अन्न-मय कोष'**—**'मन और इन्द्रियाँ'** तथा **'इन्द्रिय-सम्पर्क'** से उत्पन्न होनेवाले **'सुख'** और **'दुःखों'** के साथ **'इन्द्रिय-विषय'** अपने पूर्ण व्यापार में रहते हैं। इस **'अवस्था'** का **'अभिमानी जीव'** **'विश्व'** माना गया है और उसके विषय में कहा गया है कि वह **'स्थूल पदार्थों'** का **'भोक्ता'** है अर्थात् **'बाह्य जगत्'** का उपभोग करनेवाला है। **'ज्ञाता'**, **'ज्ञान'** और **'ज्ञेय'**—इन तीनों की स्थूल **'त्रिपुटी'** इस **'आवरण'** में प्रारम्भिकता से कार्य करती है। **'प्रमेय'** अथवा **'पदार्थ-निष्ठ संसार'** मुख्य कार्य-सम्पादन करते हैं। अतः **'त्रिपुरा चक्रेश्वरी'** और **'प्रकट-योगिनी'** नामों से **'त्रिपुरा'** का अर्थ **'त्रिपुटी'** (**पुर-त्रयम् प्रमाण-प्रमेय-प्रमातृ-रूपं त्रिपुटीत्वेन प्रसिद्धम्**) और **'प्रकट-योगिनी'** का अर्थ **'प्रकट'** (प्रत्यक्ष) है।

आवरण-देवता—इस **'चक्र'** में **'आवरण-देवताओं'** की तीन श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक **'चतुरस्त्र'** के लिए एक श्रेणी है।

१. **'प्रथम चतुरस्त्र'** में **'अणिमा, लघिमा'** आदि अष्ट-सिद्धियाँ हैं। इनसे **'पाँच ज्ञानेन्द्रियों, दो मल-मूत्रेन्द्रियों'** तथा **'अनुकूल, प्रतिकूल'** और **'उपेक्षा'**—इन तीन **'मानसिक वृत्तियों'** का निरूपण होता है।

२. **'द्वितीय चतुरस्त्र'** के देवता **'ब्राह्मी, माहेश्वरी'** आदि **'आठ देव-माताएँ'** हैं। ये **'आठ धातुओं'** अथवा आवश्यक **'अङ्ग-घटकों'** का निरूपण करती हैं (**चर्म, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वसा, वीर्य और शक्ति**), जो **'स्थूल शरीर'** अथवा **'जीव'** के उपभोग के **'निवास-स्थान'** को बनाते हैं।

३. **'तीसरे चतुरस्त्र'** के देवता **'सर्व-संक्षोभिणी, सर्व-विद्राविणी'** आदि **'मुद्राएँ'** हैं, जो सांसारिक **'आनन्दों की मूर्तियाँ'** हैं और ये **'आनन्द'** प्रथम चतुरस्त्र में वर्णित **'पदार्थ-समूह'** के **'उपभोग'** के अवसर पर पैदा होते हैं।

'**प्रथमावरण**' के '**बिन्दु-तर्पण**' का महत्त्व (तात्पर्य) यह है कि '**उपासक**' का यह दृढ़ ज्ञान कि '**जाग्रदवस्था**' में जाने गए सम्पूर्ण पदार्थों का मूल तत्त्व '**चित्-शक्ति**' ही उससे (उपासक से) भिन्न नहीं है, अपितु '**मन**' ही उससे भिन्न है, जो '**ज्ञान**' और '**ज्ञाता**'—दोनों का साधन है। केवल '**त्रिपुटी**' के नष्ट होने पर '**उपासक**' अपने अन्तिम '**मोक्ष**' को प्राप्त कर लेगा। उसको समझना चाहिए कि '**प्रकट-योगिनियाँ**' अथवा '**चित्-शक्ति**' परस्पर-विरोधी स्थूल '**इन्द्रिय-विषयों**' से अपरिमित '**पर-देवता**' की किरणें हैं।

द्वितीयावरण : 'षोडश-दल पद्म'

इस '**चक्र**' की '**प्रकृति**', '**चन्द्र-बीज**' '**सं**' है। यह '**चक्र**' मन और उसकी वृत्तियों का अथवा '**त्रिपुटी**' का निरूपण करता है। '**मन**' का अधिष्ठातृ-देवता '**चन्द्रमा**' है। अत: इससे मनुष्य की '**स्वप्नावस्था**' का बोध होता है। इस '**अवस्था**' में केवल '**मन**' की प्रधानता है अर्थात् '**मन**' ही इसका सर्वे-सर्वा है। '**स्वप्नावस्था**' में '**मन**' की स्थिति '**कण्ठ**' में अथवा '**चन्द्रमा**' के स्थान में होती है। यह चक्र '**विशुद्धि-चक्र**' में स्थित '**षोडश-दल-कमल**' है। इस '**चक्र**' का नाम '**सर्वाशा-परिपूरक चक्र**' है अर्थात् यह '**चक्र**' सब इच्छाओं की पूर्ति करनेवाला है। अत: '**जीव**' अपनी '**जाग्रदवस्था**' में जो इच्छा आदि करता है, उसी का अनुभव '**स्वप्नावस्था**' में करता है। इस '**अवस्था**' का अभिमानी '**जीव**' '**तैजस पुरुष**' के नाम से विदित है और उसका वर्णन किया गया है कि वह '**प्रविक्त-भुक्**' है अर्थात् वह '**प्राण-मय, मनोमय**' और '**विज्ञान-मय कोषों**' से निर्मित '**सूक्ष्म शरीर**' में गुप्त और अत्यन्त सूक्ष्म '**अनुभवों का भोग**' करनेवाला है अर्थात् '**वासना-मय**' अथवा '**संस्कार-जन्य फलों**' का भोक्ता है। अतएव इस '**चक्र**' की '**चित्-शक्ति**' का नाम '**चक्र**' के नाम से '**गुप्त-योगिनी**' पड़ा है।

इस '**चक्र**' के आवरण-देवता '**कामाकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी**' आदि '**षोडश शक्तियाँ**' हैं। ये '**शक्तियाँ**' मन और प्राण के स्पन्दन से उत्पन्न '**मनोवृत्तियों**' की '**प्रकृति-स्वरूपा**' हैं—

षोडश-स्पन्दन-सन्दोह-चमत्कृति-मय्यः कामाकर्षिण्यादि-कला-शक्तयः— प्राणादि-पञ्चकं इन्द्रिय-दशकं मनश्चैकं आहत्य षोडश। अथवा केवलं मनः प्राण-स्पन्दनेन षोडश-प्रकारेण चलयन् वृत्ति-रूपेण

परिणमति। ता वृत्तय एव स्वप्ने परिदृश्य-मान-प्रपञ्च इत्यर्थः॥

(योगिनी-हृदय-८, भाष्य)

तृतीय आवरण : अष्ट-दल पद्म

शिव-बीज 'हं' इस 'चक्र' की 'प्रकृति' है। इससे 'रुद्र' के संहार-कार्य —'महा-प्रलय' का द्योतन होता है। 'जीव' से प्रति-दिन उपभुक्त 'जाग्रत्, स्वप्न' और 'सुषुप्ति' नामक 'तीन अवस्थाओं' में से 'सुषुप्ति' (प्रगाढ़ निद्रा) अवस्था 'प्रलय' है अर्थात् 'सुषुप्ति' और 'प्रलय'— दोनों एक-स्वभाव के हैं (समान हैं)। शास्त्रों ने सुषुप्ति को 'दिन-प्रलय' माना है। इस 'अवस्था' में 'प्रमेय' अर्थात् 'विषयाश्रित' पदार्थ- निष्ठ 'जगत्' और 'प्रमाण' अर्थात् 'ज्ञान की शक्ति' रखनेवाला (ज्ञान- शक्ति-सम्पन्न) 'मन'—दोनों 'लीन' (प्रसुप्त) रहते हैं और 'प्रमाता' ही केवल 'कर्म-शील' (सोद्योग) रहता है। सुषुप्तावस्थाभिमानी जीव 'प्राज्ञ पुरुष' है। वह 'आनन्द' का भोक्ता है अर्थात् स्वयं अपने आनन्द का भोगनेवाला है और वह 'कारण-शरीर' अथवा 'आनन्द-मय कोष' के साथ रहता है।

इस 'आवरण' के देवता 'अनङ्ग-कुसुमा, अनङ्ग-मेखला' आदि 'आठ शक्तियाँ' हैं। ये आठ शक्तियाँ सूक्ष्म 'पुर्यष्टक' का निरूपण करती हैं। यह पुर्यष्टक— १. प्रकृति, २. महतत्त्व, ३. अहङ्कार, ४. पञ्च-तन्मात्रा, ५. पञ्च-भूत, ६. दशेन्द्रिय, ७. अन्तःकरण, ८. पुरुष से बना हुआ है। वह पुरुष 'सुषुप्तावस्था' में 'अज्ञान' से प्रसुप्त रहता है, जो (अज्ञान) 'सुषुप्ति' का कारण है। अतः 'अनङ्ग-कुसुमादि' शक्तियाँ शरीर-रहित हैं। अर्थात् वे 'अनङ्ग' (अङ्ग-रहित) और 'गुप्त-तर' (अत्यन्त छिपी हुई) हैं। अतएव 'अनङ्ग-कुसुमा' आदि शक्तियाँ 'गुप्त-तर योगिनी' कहलाती हैं।

इस 'आवरण' की 'चक्रेश्वरी' 'त्रिपुर-सुन्दरी' कहलाती हैं। यतः वे 'स्वयं-प्रकाश' हैं और तीनों अवस्थाओं में प्रकाशित होती रहती हैं तथा 'ज्ञेय' (ज्ञान के योग्य) पदार्थों को प्रकाशित करती हैं और 'जाग्रत्' तथा 'स्वप्नावस्थाओं' की चिन्ता से ज़र्जरित 'जीव' को 'सुषुप्तावस्था' में 'सहज आनन्द' के उपभोग को प्रदान करती हैं।

सैव सौन्दर्याख्यो गुणः। तेन संयुता त्रिपुर-सुन्दरी चक्रेश्वरी॥ भोग्य-भोक्तृ-रूप-प्रवृत्त्या सञ्जनित-श्रम-निवृत्ति-पूर्वक सहजानन्दावाप्तिः।

(योगिनी-हृदय, ८.१४३, अमृतानन्द-भाष्य)

'सुषुप्ति-अवस्था' में **'अज्ञान'** के साथ **'सहजानन्द'** का उपभोग होता है, जब कि **'आन्तर'** व **'बाह्य'** जगत् **'स्थूल'** और **'सूक्ष्म'** को अन्दर खींचकर अपने **'कारण'** (आत्मा) में लीन हो जाता है। **'मैं सुख की नींद सोया हूँ और मुझे ज्ञान नहीं कि इस बीच क्या-क्या हुआ,** यह अनुभव सर्व-साधारण को होता है। **'सर्वाकर्षिणी,** (सबका आकर्षण करनेवाली) **'मुद्रा'** इस अनुभव का निरूपण करती है तथा **'जीव'** की महिमा **'प्रज्ञान-घन'** है, इसका निरूपण **'महिमा-सिद्धि'** द्वारा होता है।

टिप्पणी—**'बाह्य जगत्'** के **'नाम'** और **'रूप'** का अनुभव (ज्ञान) होने पर मनः-कल्पित **'अध्यास'** को दूर करनेवाली सच्चिदानन्द-स्वरूपा **'चित्-शक्ति'** का सन्तत ध्यान **'अध्यास'** अथवा **'आवृत्ति'** है। **'आवृत्ति'**-शब्द वास्तव में **'आवरण'** अथवा **'आवृत्ति'** (आच्छादन) का पर्याय है क्योंकि **'आवृत्ति'** अथवा **'असकृत् अभ्यास'** की आवश्यकता तभी उत्पन्न होती है, जब हमारा **'अन्वेष्य'** विषय **'पिहित'** अर्थात् आच्छादित हो। क्या जब तक आवरण दूर न हो जाए, तब तक बार-बार के अभ्यास की आवश्यकता नहीं है? अपितु है ही।

''आवृत्तिरसकृदुपदेशात्''। ब्रह्म-विषयक श्रवण-मनन-निदिध्यासनानाम् असकृत् अनेक-वारमावृत्तिः अभ्यासः कर्तव्या।
कुतः? उपदेशात् 'आ सुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्त-चिन्तया'।
'तच्चिन्तनं तत् कथनमन्योन्यं तत्-प्रबोधनम्'।
'तद्-बुद्धयस्तदात्मनस्तन्निष्ठास्तत्-परायणाः'।
दिने दिनेऽपि वेदान्त-श्रवणाद् भक्ति-संयुतात्।
गुरु-शुश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीति-फलं लभेत्॥
इत्यादि-स्मृतिषु निरन्तर-ब्रह्म-विचारस्य कर्तव्यत्वोपदेशादित्यर्थः॥

(ब्रह्म-सूत्र ४.१.१ वृत्ति)

उपर-लिखित **'ब्रह्म-सूत्र'**-वृत्ति के अनुसार **'ब्रह्म-विचार'** पुनः-पुनः करना चाहिए और यह ध्यान देने की बात है कि **'आवरण-पूजा'** ब्रह्म-विचार का पुनः पुनः अभ्यास करना ही है।

चतुर्थ आवरण : चर्तुदश कोण

इस **'आवरण'** की प्रकृति **'माया-बीज'** ई-कार है। इसी का नाम **'काम-कला'** है। यह आवरण **'माया-विशिष्ट ईश्वर'** का निरूपण करता

है। इस 'आवरण' से 'ईश्वर-विचार' में तत्पर 'मन' का तथा इस 'आवरण' के देवताओं से क्रमशः उसकी (मन की) 'वृत्तियों' का बोध होता है।

मोचक-स्वरूप-तत्पद-वाच्यार्थेश्वर-भावना तुरीयावरणे सूचिता। ईश्वर-स्वरूपं तु चतुर्दश-कोणात्मक-चतुर्दश-भुवनेषु अनु-प्रवेशलक्षणया बोद्धव्यम्॥

इस चक्र का नाम 'सर्व-सौभाग्य-दायक' (सब प्रकार के सौभाग्य का देनेवाला) है। यतः यह 'त्रिपुटी' (पुर-त्रय) के कारण से उत्पन्न भेद-भावना और 'दुःखों के विध्वंस' करने के अनन्तर अखण्डीयकता के ज्ञान को प्रदान करनेवाले 'परमेश्वर की प्रकृति' का द्योतक है—

भेदाविषयक-ज्ञानमेव सौभाग्यम्। तद्दायकः परमेश्वरः। पुर-त्रय-योगात् सञ्जनित-क्लेश-भेदकः इत्यर्थः॥

शिवाद्वैत-भावना सैव सौभाग्यं। परम-सुभग-परम-प्रेमास्पद पर-शिवाभेद-गोचरत्वात् तदेव सर्व-सौभाग्य-दायकमित्यर्थः॥

(योगिनी-हृदय, ८.१४८; अमृतानन्द-भाष्य)

इस चक्र की योगिनियों का नाम 'सम्प्रदाय-योगिनी' है। इस नाम की व्याख्या निम्न प्रकार से की गई है—

सम्यक्-प्रकर्षेण मुमुक्षून् प्रति स्वयमेव गुरु-रूपेण वा अभेद-दर्शन-रूप- ज्ञान-प्रदातृत्वात् सम्प्रदाय इत्यर्थः॥

अर्थात् 'परमेश्वर' स्वयं अथवा 'गुरु-रूप' में उपस्थित होकर मुमुक्षुओं के लिए अखण्ड एकता के 'सत्य-ज्ञान' को प्रदान करता है। 'सम्प्रदाय' (सर्वोत्कृष्ट वस्तु का देनेवाला)-शब्द 'ईश्वर' का द्योतन करता है। वह 'साम्प्रदायिक ज्ञान' (सम्प्रदाय) को देनेवाली 'गुरु'-श्रेणी का अग्रणी है। अतएव वह 'जगद्-गुरु ' अथवा 'अखिल-विश्व-गुरु' ही है।

यह 'सर्व-शक्तिमान' विश्व का कारण तथा 'उद्धर्ता' (मोक्ष-प्रद पुराण-पुरुष, परमेश्वर) चतुर्दश भुवनों से बने हुए समस्त विश्व को अभिव्याप्त करता है। यह शास्त्रों का सर्व-सम्मत सिद्धान्त है। यह 'चतुर्थ आवरण'-'चतुर्दश भुवनों' का निरूपण करता है तथा इसके (आवरण के) 'चतुर्दश त्रिकोणों' में से (चतुर्दशार में से) प्रत्येक त्रिकोण 'परमेश्वर' के विषय में एक प्रकार की जिज्ञासा सूचित करता है।

'श्रुति' और 'स्मृति' आदि में '**विश्व के कारण परमात्मा-परमेश्वर**' के विषय में पूर्ण विचार किया गया है। '**ब्रह्म-सूत्र**' के प्रथम अध्याय में इस विषय की विवेचना निम्न-लिखित चतुर्दश अधिकरणों में की गई है—

अधिकरण	विषय
१- आकाशाधिकरण	परमेश्वर का वर्णन किया गया है कि— आकाश,
२- प्राणाधिकरण	वायु,
३- ज्योतिर्दर्शनाधिकरण	तेजस,
४- आनन्द-मयाधिकरण	रस,
५- इन्द्र-प्राणाधिकरण या प्रजनन अथवा प्रतर्दनाधिकरण	प्रज्ञान या मुख्य प्राण,
६- वैश्वानराधिकरण	त्रैलोक्य-शरीरी अथवा जग-त्रय-शरीर वाला।
७. द्युभ्वाद्यधिकरण	वह स्तर (फलक), जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग अविद्या से अधिष्ठित हैं।
८- सर्व-प्रसिद्ध्यधिकरण	मनो बुद्धि आदि।
९- अत्राधिकरण	सर्व-संहारक।
१०- गुह्याधिकरण या दहराधिकरण	दहराकाश।
११- अन्तराधिकरण	असङ्गत्वादि धर्म से युक्त।
१२- अन्तर्याम्यधिकरण	सम्पूर्ण विश्व का नियन्त्रक, सर्व-जग-नियन्त्रक
१३- अदृश्यत्वाधिकरण	अदृश्य, अनिर्देश्य आदि।
१४- भूमाधिकरण	सर्व-व्यापी, अद्वितीय।

यह ध्यान देने के योग्य है कि इस प्रकार **सर्व-व्यापी, सर्वज्ञ, समस्त विश्व के उत्पादक** और नियमतः '**परमात्मा**' का वर्णन किया गया है कि वह '**उपास्य**' (उपासना, पूजा करने के योग्य) अथवा '**ध्येय**' (ध्यान करने के योग्य) और '**ज्ञेय**' (जानने के योग्य) है। इस विषय के अधिक ज्ञान के लिए

गुरु-मुख से '**ब्रह्म-सूत्र**' , उसका '**भाष्य**' तथा उसकी '**टीकाओं**' का अध्ययन करना चाहिए।

इस '**चक्र**' में '**सर्व-संक्षोभिणी, सर्व-विद्राविणी**' इत्यादि '**चतुर्दश देवता**' मन की वृत्तियाँ हैं। ये '**मानसिक वृत्तियाँ**' ही '**परमेश्वर**' की उपर्युक्त '**चतुर्दश आकृतियाँ**' हैं। इस '**आवरण**' की '**चक्रेश्वरी**' का नाम '**त्रिपुर-वासिनी**' है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि '**प्रमाण, प्रमेय**' **और** '**प्रमाता**'— '**त्रिक्**' (तीन का समूह) को ही '**त्रिपुर**' कहते हैं। '**त्रिपुटी**' से सम्बन्ध स्थापित होने पर '**भेद-ज्ञान**' उत्पन्न होने के फल-स्वरूप '**भय**' और '**बाधाएँ**' उत्पन्न होती हैं— '**एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति; द्वितीयाद् वै भयं भवति।**'

'**वासी**' कुठारिका (कुल्हाड़ी) अथवा बँसुली को कहते हैं, जिससे लकड़ी काटी अथवा छीली जाती है। अतः '**वासिनी**' का अर्थ भी '**कुठारिका**' के समान काटनेवाली हुआ। इस प्रकार '**त्रिपुर-वासिनी**' का अर्थ '**त्रिपुटी**' से उत्पन्न '**भय**' और '**बाधाओं**' का नाश करनेवाली है—'**पुर-त्रये योगादि-क्लेश-भेदेन सिद्धा त्रिपुर-वासिनी**'।

इस '**चक्र**' में '**ईशित्व-सिद्धि**' और '**सर्व-वशङ्करी मुद्रा**' की पूजा होती है। अतः '**ईश्वर**' का ध्यान भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाता है। '**निर्विशेष**' (निर्गुण) '**ब्रह्म**' का संसार कारण होना '**तटस्थ लक्षण**' है। इसका कारण '**शुद्ध सत्त्व-माया**' की '**मध्यस्थता**' (मध्य-वर्तित्व) है।

पञ्चमावरण : बहिर्दशार

'**चतुर्थावरण**' में '**ईश्वर**' की '**प्रकृति**' के विषय में जिज्ञासा की गई है कि उसकी '**प्रकृति**' किस प्रकार की है। यह शास्त्रों का अटल सिद्धान्त है कि उक्त प्रकार की '**ईश्वर**'-विषयक जिज्ञासा तथा यथोचित रीति द्वारा उसकी '**उपासना**' से वह ('**ईश्वर**') '**स्वयं**' शिष्य-कल्याणार्थ '**गुरु-रूप**' में प्रकट होता है। यतः उसकी (**ईश्वर की**) वास्तविक '**प्रकृति**' का ज्ञान गुरु की कृपा के बिना प्रकारान्तर से नहीं हो सकता—

आराधितं दैवतमिष्टमर्थं ददाति तस्याधिगमो गुरुः स्यात्।
नो चेत् कथं वेदितुमीश्वरोऽयमतीन्द्रियं दैवतमिष्टदं नः॥

(शङ्कर-विजय, १०.१०१)

'ईश्वर' की पूर्ण कृपा से ही 'सद्-गुरु ' की प्राप्ति होती है। अतः यह 'आवरण' गुरु -प्राप्ति का निरूपण करता है।

इस 'चक्र' का नाम 'सर्वार्थ-साधक चक्र' है क्योंकि यह 'मोक्ष' नामक परम पुरुषार्थ का देनेवाला है।

'सर्व'-शब्दः परमार्थ-वाची, परमार्थः परम-पुरुषार्थः, सः मोक्ष एव, तत्-साधकं चक्रम्।

जीवन के सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा दिलानेवाला अत्यन्त सुखोत्पादक 'मोक्ष' केवल 'सत्य ज्ञान' द्वारा ही प्राप्त हो सकता है और उसकी (सत्य ज्ञान की) प्राप्ति 'गुरूपदेश' के बिना नहीं हो सकती है। 'अज्ञान' को दूर करनेवाला 'गुरु' है।

ज्ञानादेव तु कैवल्यं; तरति शोकमात्म-वित्; आचार्य-वान् पुरुषो वेद; तद्-विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्-पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्म-निष्ठम्॥

अन्तिम उद्धरण में 'एव'-शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार से स्पष्ट करता है कि मुमुक्षु पुरुष सर्व-गुण-सम्पन्न तथा शास्त्र-निपुण होने पर भी बिना 'गुरूपदेश' के स्वतन्त्रता से 'आत्मा' और 'ब्रह्म' की 'एकता' का अनुभव नहीं कर सकता। अतः 'गुरु' के समीप निवास कर उनकी आज्ञा का पालन करना नितान्त आवश्यक है।

तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्व-दर्शिनः॥

(भगवद्-गीता, ४.३४)

'मुमुक्षु' पुरुष को 'जीव' और 'ब्रह्म' की 'एकता' के अनुभव से परिपूर्ण ज्ञानी महात्माओं के पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम-पूर्वक, आदर के साथ, अपने संशयों को दूर करने के लिए निम्न-लिखित प्रकार से—**बन्ध किसे कहते हैं?, मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?, विद्या और 'अविद्या' का लक्षण क्या है?** इत्यादि प्रश्न करने चाहिए। इतना ही नहीं, उसे (मुमुक्षु) को 'आप्त, अङ्ग, स्थान' और 'सद्-भाव' के भेद से 'चतुर्विध सेवा' द्वारा भी 'ज्ञानी महात्मा' को सन्तुष्ट करना चाहिए। तब 'गुरु ' उसके ऊपर अनुग्रह कर सत्य ज्ञान का उपदेश करेंगे।

'सेवा' के चार प्रकार निम्न-लिखित हैं— १. 'गुरु' के अनुकूल किए सेवा-कार्य को 'आप्त', २. 'गुरु' की व्यक्ति-गत सेवा—जैसे कि पैर दबाना आदि सेवा-कार्य को 'अङ्ग', ३. उनके अधिकार की वस्तुओं की निगरानी (रक्षा) करने को 'स्थान' तथा ४. 'गुरु' को 'पर-ब्रह्म' मानकर उनका 'ध्यान-चिन्तन' करने को 'सद्-भाव' कहते हैं।

"सत्कर्म-परिपाकतः बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिर-काल-सेवया बन्धान्मोक्षं कश्चित् प्रयाति।"

(पैङ्गलोपनिषद्, २)

'शङ्कर-विजय' के दशम सर्ग के निम्न-लिखित पद्य 'गुरूपसादन' तथा 'गुरु-सेवा की महिमा' का वर्णन करते हैं—

परिपक्व -मतेः सकृच्छ्रुतं जनयेदात्म-धियं श्रुतेर्वचः।
परिमन्द-मतेः शनैः शनैर्गुरु-पादाब्ज-निषेवणादिना॥
प्रणवाभ्यसनोक्त-कर्मणोः करणेनापि गुरोर्निषेवणात्।
अपगच्छति मानसं मलं क्षमते तत्त्वमुदीरितं ततः॥

मनोऽनुवर्तेत दिवानिशं गुरोः, गुरुर्हि साक्षाच्छिव एव तत्त्व-वित्।
निजानुवृत्त्या परितोषितो गुरु- र्विनेय-वक्त्रं कृपया हि वीक्षते॥
सा कल्प-वल्लीव निजेष्टमर्थं फलत्यवश्यं किमकार्यमस्याः।
आज्ञा गुरोस्तत् परिपालनीया सा मोदमानाय विधातुमिष्टा॥

इस 'चक्र' की चक्रेश्वरी 'त्रिपुरा-श्री' कहलाती हैं क्योंकि इस आवरण में उस मानसिक दशा की प्राप्ति होती है, जिसमें 'त्रिपुटी' आत्मा में विलीन हो जाती है।

"लोक-त्रय-समृद्धीनां हेतुत्वाच्चक्र-नायिका त्रिपुरा-श्रीः। लोक-त्रयस्य मातृ-मान-मेय-लक्षणस्य समृद्धीनां परिपूर्ण-प्रमातृ-विश्रान्ति लक्षणानां हेतुत्वात् त्रिपुरा-श्रीः इति नाम लभते।"

(योगिनी-हृदय, ८.१४५ टीका)

'कुलोत्तीर्ण-योगिनी'—इस नाम में 'कुल'-शब्द का अर्थ 'ज्ञान का समूह' और 'उत्तीर्ण' का अर्थ 'वृद्धि'— अतः दोनों का अर्थ 'ज्ञान के समूह की वृद्धि' है। योग्य शिष्यों के सम्मिलित हो जाने से 'कुल' की वृद्धि हो जाती है। अतः 'कुलोत्तीर्ण' अथवा 'कुल-कौलिक-योगिनी' 'गुरु'

के समीप शिष्यों की उपस्थिति तथा 'गुरु' द्वारा उनकी स्वीकृति का निरूपण करती है।

इस **'आवरण'** के **'दश देवता'** गुरु - कृपा से प्राप्त लाभ को दर्शाते हैं—**'गुरु-प्रसादात् परमार्थ-लाभः'**।

१. सर्व-सिद्धि-प्रदा	आत्म-ज्ञान की स्पष्ट प्राप्ति।
२. सर्व-सम्पत्-प्रदा	निरीहता की प्राप्ति (निरभिलाषा)।
३. सर्व-प्रियङ्करी	शाश्वत आनन्द।
४. सर्व-मङ्गल-कारिणी	सर्वत्र शिवानुभव की योग्यता।
५. सर्व-काम-प्रदा	महदानन्द की प्राप्ति।
६. सर्व-दुःख-विमोचिनी	सर्व-दुःखों से विनिर्मुक्ति।
७. सर्व-मृत्यु-प्रशमनी	अमृतत्व-प्राप्ति।
८. सर्व-विघ्न-निवारिणी	भेद-भावना का निर्मूलन।
९. सर्वाङ्ग-सुन्दरी	सब प्रकार के अध्यासों में अधिष्ठान का ज्ञान।
१०. सर्व-सौभाग्य-दायिनी	'शिवोहं' इस अनुभव की प्राप्ति।

'वशित्व-सिद्धि' वह शक्ति है, जो **'नाम'** और **'रूप'** के जगत् को **'आत्मा'** में लीन कर देती है। यह शक्ति **'गुरु'** द्वारा **'दीक्षा-संस्कार'** के बिना प्राप्त नहीं की जा सकती।

'सर्वोन्मादिनी मुद्रा' मोक्ष की अत्यन्ताभिलाषा को द्योतित करती है। जिस प्रकार जलते हुए मकान का मालिक अपने शरीर की रक्षा के लिए स्त्री, पुत्र आदि की कुछ भी चिन्ता न कर सरोवर की ओर दौड़कर अपने प्राण बचाता है, उसी भाँति मोक्षाभिलाषी पुरुष सांसारिक दुःखों से बचने के लिए अपनी इच्छाओं को त्याग कर **'गुरु'** का अन्वेषण करता है—

गृहे दह्यमाने तत्रस्थ दह्यमानः पुरुषः यथा कलत्र-पुत्रादिकं परित्यज्य स्व-तापोपशमनार्थमेव बहिर्निर्गत्य तापोपशमनं कर्तुमिच्छति, एवं सांसारिक-तापोपशमनं सम्पादयितुं त्यक्त-सर्वेषणः सन् मोक्षेच्छया सद्-गुरुं वृणोति॥ **(वासुदेव-मनन)**

षष्ठ आवरण : अन्तर्दशार

'पञ्चमावरण' में **'गुरूपसादन'** और **'गुरु-सेवा'** का वर्णन किया गया है।

'**षष्ठ आवरण**' में '**श्रवण**' अर्थात् '**गुरु**' के निकट बैठकर श्रद्धा और भक्ति-पूर्वक उनके उपदेश को सुनने का निरूपण किया गया है।

'**गुरु**' की शिक्षा (उपदेश) का तत्त्व '**जीव**' और '**ब्रह्म की एकता**' का अनुशासन करनेवाला '**तत्त्वमसि**'—यह '**महा-वाक्य**' है। '**श्रवण**' करने के परिणाम से शिष्य के मन में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि समस्त वेदान्त-शास्त्र का लक्ष्य '**जीव**' और '**ब्रह्म**' की उक्त प्रकार की '**एकता**' अथवा '**निर्भयावस्था**' की प्राप्ति है।

इस '**चक्र**' का नाम '**सर्व-रक्षा-कर चक्र**' है अर्थात् सबकी रक्षा करनेवाला '**चक्र**' क्योंकि '**रक्षा-यन्त्र**' के समान '**श्रवण**' शिष्य को '**द्वैत-रूपी**' राक्षस के चंगुल से छुड़ाकर अपने भीतर बसा देता है और सर्वदा के लिए उसके (शिष्य के) पकड़े जाने के भय से रक्षा करता है—

स्वरूपावेश-रूपके सर्व-रक्षा-करे चक्रे। स्वरूपस्य साधकस्य आत्मनः आवेशः स्वरूपावेशः। पर-शिवोऽहमिति मतिः। आवेशो हि लोके ब्रह्म-राक्षसोऽहमिति-वत् पराहन्ता-प्रथा, तद्-रूपके तन्निरूपके। रक्षा-नाम् सर्वस्मात् भेद-प्रपञ्च-लक्षणात् परिपन्थिनो रक्षा पर-शिवाभेद-प्रतीति-रूपा॥

(योगिनी-हृदय, ८.१५७ टीका)

तत्त्वमसीत्युपदेश-वाक्यात् 'जीवोऽहं, चतुरो ऽहं' इत्याद्या-कारक-सर्वाध्यास-निरसोपायेन ब्रह्मैवाहमिति स्व-स्वरूपावेशक-प्रदं तदेव सर्व-रक्षा॥

'**रक्षा**' का अर्थ अपने आश्रय में लेकर सहायता देना है। '**आत्मा**' का अस्तित्व '**त्रिपुटी**' की उपस्थिति का सहायक है। भेद-भावना-रहित दृष्टि-कोण ही '**त्रिपुटी**' की अविद्यमानता है। '**त्रिपुटी**' सब प्रकार की '**माया**' का कारण है। उक्त दृष्टि-कोण बिना '**गुरु-उपदेश**' के नहीं हो सकता।

'**प्राकाम्य सिद्धि**' अशुद्ध '**अविद्या**' को दूर कर '**असंसक्त आत्मा**' के ज्ञान को प्रदान करती है—

"विद्या-शक्ति-विशुद्धिं च सिद्धिं प्राकाम्य-संज्ञिताम्।"

(योगिनी-हृदय, ८.१५९)

इस '**चक्र**' की योगिनियाँ '**निगर्भ-योगिनी**' कहलाती हैं। '**निगर्भ**' का अर्थ '**सत्यात्मा**' है अर्थात् अत्यन्त गुप्त स्थान में रहनेवाला—

"निरन्तरो गर्भे अति रहस्य-स्थले स्थित्वात् निगर्भः।"

हृदय की गुफा '**पञ्च-कोशों**' से परे है और '**प्रत्यगात्मा**' उसी में प्रकाशित होता है। जिस '**मानसिक वृत्ति**' द्वारा (अर्थात् '**मन**' की जिस अवस्था द्वारा) इस '**आत्मा**' का ज्ञान होता है, वह '**निगर्भ-योगिनी**' कहलाती है अथवा '**ब्रह्म**' स्वयं '**निगर्भ**' है। वह अज्ञानियों के लिए '**पिहित**' (गुप्त) है क्योंकि वह '**आवरण**' और '**विक्षेप**' के भेद से दो प्रकार के '**अज्ञान**' के '**पिधान**' (आच्छादन) से आवृत्त है। उसके (**पिधान**) के साथ रहनेवाली '**मानसिक वृत्ति**' (मन की दशा) '**निगर्भ-योगिनी**' है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य, योग-माया-समावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति, लोको मामजमव्ययम्॥

(भगवद्-गीता, ७.२५)

इस '**चक्र**' की '**चक्रेश्वरी**' का नाम '**त्रिपुर-मालिनी**' है क्योंकि वह '**त्रिपुर**' अथवा '**त्रिपुटी**' की रक्षा करती है—

मातृ-मान-प्रमेयाणां, पुराणां परि-पोषिणी।
'त्रिपुरा-मालिनी' ख्याता, चक्रेशी सर्व-मोहिनी॥

(योगिनी-हृदय, ८.१५८-१५९)

अत्यन्त अभीष्ट वस्तु भी इसका अर्थ होता है— '**प्रकर्षेण काम्यं प्राकाम्यम्**'। इस संसार में सबसे अधिक चाहने योग्य वस्तु '**अखण्ड आनन्द**' है और उसकी प्राप्ति केवल '**आत्म-ज्ञान**' के द्वारा हो सकती है। अतएव '**ज्ञानादेव तु कैवल्यम्**'— इस प्रकार कहा गया है।

'**सर्व-महाङ्कुशा-मुद्रा**' श्रवण करने में आवश्यक सहायता देनेवाली '**मन की एकाग्रता**' का निरूपण करती है। यह ध्यान देने की बात है कि निम्न-लिखित '**शान्ति-मन्त्र**' इस '**मुद्रा**' का निरूपण करता है—

वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि।

'**श्रवण**' करने से जो लाभ उत्पन्न होते हैं, वे ही इस '**चक्र**' के '**आवरण-देवता**' हैं। उनका वर्णन निम्न-लिखित है—

१. **सर्वज्ञा**	अखण्ड ज्ञान।
२. **सर्व-शक्ति**	सर्व-व्यापकता का भाव— **मैं ही सबमें हूँ।**
३. **सर्वैश्वर्य-प्रदा**	ईश्वर के स्वभाव—नित्यता, पवित्रता, ज्ञान (बुद्धि आदि की प्राप्ति)।

४. सर्व-ज्ञान-मयी	सब प्रकार के ज्ञान की परिपूर्णता।
५. सर्व-व्याधि-विनाशिनी	सब बुराइयों के प्रति विजय-प्राप्ति।
६. सर्वाधार-स्वरूपा	आत्मा के सर्वत्र अस्तित्व की प्रतिपत्ति-स्वीकार।
७. सर्व-पाप-हरा	सब प्रकार के पापों से निर्मुक्ति।
८. सर्वानन्द-मयी	सर्वानन्द-परिपूर्णता।
९. सर्व-रक्षा-स्वरूपिणी	भेद-भावना-निवृत्ति के साथ अप्रमेयावस्था।
१०.सर्वेप्सित-फल-प्रदा	मोक्ष-प्राप्ति।

'**चतुर्थ, पञ्चम**' और '**षष्ठ**' आवरण में '**असत्त्वापादकावरण**'—अज्ञान के अंश का परोक्ष ज्ञान द्वारा विनाश किया गया है अर्थात् '**ब्रह्म**' के अस्तित्व को न माननेवाली बुद्धि का निराकरण किया गया है।

सप्तम आवरण : अष्ट-कोण

'**ब्रह्म-ज्ञान**' की प्रत्यक्ष प्राप्ति के लिए निश्चिन्त-मन '**उत्तमाधिकारी**' गुरु द्वारा '**महा-वाक्योपदेश**' प्राप्त कर '**अहं ब्रह्मास्मि**' — '**मैं ब्रह्म हूँ**' का अनुभव करने के लिए समर्थ हो जाता है। अर्थात् वह '**ब्रह्म**' का अनुभव करने लगता है, किन्तु जो '**उत्तमाधिकारी**' नहीं हैं, उनके लिए '**ब्रह्म-ज्ञान**' के तात्कालिक अनुभव के मार्ग में १. **असम्भावना** अथवा संशय और २. **विपरीत भावना**— ये दो दोष बाधा (रुकावट) पैदा कर देते हैं। यद्यपि वह अज्ञान के अंश '**अभानापादकावरण**' अथवा यद्यपि '**ब्रह्म**' का अस्तित्त्व है, तथापि वह उपलब्ध (गोचर) नहीं होता— इस प्रकार की बुद्धि का परिणाम है। उक्त प्रकार के दोषों में प्रथम दोष अर्थात् '**संशय**' मनन द्वारा दूर हो जाता है। '**गुरु**' द्वारा उपदिष्ट '**महा-वाक्य**' के तात्पर्य पर ऊहापोह और पर्यालोचन आदि पूर्वक विचार करना '**मनन**' कहलाता है—

'**अपरोक्ष-ज्ञान-प्रतिबन्धकाभानावरण-कार्य-भूतासम्भावना-निवृत्त्यर्थं मननं कर्त्तव्यम्।**'

इस प्रकार यह '**आवरण**' मनन का निरूपण करता है। इस आवरण में '**श्रीविद्या**' के विशेष स्वरूप का निरूपण किया गया है। '**श्रीविद्या**' '**अहम्-ग्रहोपासना**' है तथा '**मनन**', '**निदिध्यासन**' और '**समाधि**' का निष्कर्ष (सार) है। यदि '**गुरु**' द्वारा '**महा-वाक्योपदेश**' ग्रहण करने पर भी शिष्य को '**ब्रह्म-ज्ञान**' की प्राप्ति नहीं होती है, तो उसका केवल यह अनुमान

लगाया जाता है कि '**संशय**' और '**विरुद्ध विचार**' उसके मन में भरे पड़े हैं। यह शास्त्रों का सिद्धान्त है कि उक्त '**सन्देह**' और '**विरुद्ध विचार**' केवल '**अकृतोपासकों**' के मन को ही घेरे रहते हैं अर्थात् जिन्होंने '**उपासना**' नहीं की है, उनके मन से '**संशयादिकों**' की निवृत्ति नहीं होती। अतः '**ब्रह्म**' की प्रत्यक्ष प्राप्ति में प्रतिबन्ध '**अभानापादकावरण**' का निराकरण करना ही '**श्रीविद्या**' की '**उपासना**' का चरम लक्ष्य है। '**श्रीगौडपादाचार्य**' सम्मति देते हैं कि उक्त प्रकार के '**अकृतोपासकों**' को '**ब्रह्म-ज्ञान**' की प्राप्ति के लिए '**श्रीविद्या**' की '**दीक्षा**' ग्रहण करनी चाहिए। '**गौडपादाचार्य**' के इस विचार की प्राप्ति हमें उनके (**गौडपादाचार्य के**) '**श्रीविद्या-मन्त्र-रत्न-सूत्रों**' के '**प्रथम सूत्र**' से होती है, जिसकी व्याख्या ३८-३९ पृष्ठों पर पूर्व में की जा चुकी है।

यह '**आवरण**' संशय का उच्छेदक बताया गया है। अतः उक्त '**संशय**' की '**प्रकृति**' का ज्ञान होना भी बहुत आवश्यक है। उक्त प्रकरण के विषय में '**मन**' में अनेक विरोधी विचारों का अस्तित्व '**संशय**' कहा गया है—

एकाधिकरणे परस्पर-विरुद्ध-नाना-धर्म-ज्ञानमेव संशयः।

यह '**संशय**' **१. प्रमाण-गत** और **२. प्रमेय-गत**-भेद से दो प्रकार का है। '**अद्वितीय शिव**' के विषय में समस्त '**वेदान्त-ग्रन्थ**' प्रामाणिक हैं अथवा नहीं, इस प्रकार के '**संशय**' को '**प्रमाण-गत संशय**' कहते हैं। '**आत्म-प्रमेय संशय**' और '**अनात्मक-प्रमेय संशय**' के भेद से '**प्रमेय-गत संशय**' द्वितीय माना जाता है। इस प्रकार के दो भेदों में से दूसरा भेद (**अनात्म-प्रमेय संशय**) असंख्य प्रकार का है और उसके भेदों के वर्णन करने से यहाँ पर कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

'**आत्म-प्रमेय संशय**' भी निम्न-लिखित रीति से बहुत प्रकार का है—

(अ) **ब्रह्मात्मैक्य** के विषय में—

१. क्या आत्मा '**ब्रह्म**' से भिन्न है अथवा अभिन्न?
२. यदि '**आत्मा**' और '**ब्रह्म**' एक ही है, तो क्या सर्वदा एक रहते हैं अथवा केवल '**मोक्ष-दशा**' में एक हो जाते हैं?
३. यदि वे भिन्न नहीं हैं, तो उसमें (आत्मा में) भी आनन्दादि हैं अर्थात् '**आनन्दादि-स्वरूप**' है अथवा '**आनन्दादि**' से '**रहित**' है?
४. यद्यपि उसमें '**आनन्दादिक**' हैं, तो क्या वे उसके '**गुण**' हैं अथवा '**सहज**' हैं अथवा उसकी '**शक्तियाँ**' हैं?

(ब) स्वयं 'आत्मा' के विषय में—

१. क्या 'आत्मा' शरीर आदि से भिन्न है अथवा नहीं?
२. यदि वह भिन्न है, तो क्या वह अत्यन्त 'सूक्ष्म' तथा 'अमेय' है अथवा 'मध्यम' आकार है?
३. यदि वह निर्मर्यादि है, तो क्या वह 'कर्त्ता' है अथवा 'अकर्त्ता है?
४. यदि 'अकर्त्ता' है, तो क्या वह एक है अथवा बहुत है, जो परस्पर भिन्न हैं? इत्यादि।

(स) 'ईश्वर' के विषय में—

१. क्या 'ईश्वर' 'कैलाश' अथवा 'वैकुण्ठ' में निवास करनेवाला मूर्तिमान् प्राणी है अथवा नहीं?
२. यद्यपि वह 'अमित' तथा 'शरीर-रहित' है, तो क्या उसे 'विश्व की सृष्टि' के लिए 'परमाणुओं' की तद्वत् अन्य 'पदार्थ' की आवश्यकता होती है अथवा केवल 'इच्छा'— मात्र से वह 'विश्व' को उत्पन्न करता है?
३. यद्यपि 'सृष्टि' के लिए उसे किसी 'वस्तु' की आवश्यकता नहीं है, तो क्या वह 'शुद्ध,साधारण,अकेला' जगत् का 'उत्पादक' है अथवा वह 'कार्य-साधक' (कर्म-क्षम) और 'प्रकृति' (उपादान-कारण)— दोनों ही है?
४. यदि वह 'कार्य-साधक' और 'प्रकृति' दोनों ही है, तो क्या वह 'जीवों' के लिए 'कर्म-फलों' का देनेवाला है अथवा नहीं?
५. यदि वह 'कर्म-फल' प्रदान करनेवाला है, तो क्या वह अन्याय आदि के 'कलङ्क' से कलङ्कित है अथवा इस प्रकार के 'दोषों' से 'निर्मुक्त' है? इत्यादि।

'वेदान्त-ग्रन्थों' के समन्वय से 'प्रमाण-गत संशय' दूर हो जाता है और उसकी 'अविरुद्धता' के ज्ञान से 'प्रमेय-गत संशय' भी विनष्ट हो जाता है। अतः सब प्रकार के 'संशयों का उन्मूलक' यह 'सप्तमावरण' समस्त 'वेदान्त-शास्त्र' की 'जिज्ञासा' का सूचक है।

इस 'चक्र' का नाम 'सर्व-रोग-हर चक्र' है अर्थात् यह सब 'व्याधियों' को दूर करनेवाला है क्योंकि यह 'शिव की प्राप्ति' के लिए सब प्रकार के 'संशयों का निराकरण' कर 'संसार के दुःखों' को जड़ से उखाड़ देता है—

"अनित्य-शुचि-क्लेश-रूप-संसारो रोगः। तस्य हरणे प्रभाव-शालीति 'सर्व-रोग हर-चक्रम्'।"

इस 'चक्र' की 'योगिनियों' का नाम 'रहस्य-योगिनी' है। ये 'योगिनियाँ' 'द्वैतता' के अनुसरण से उत्पन्न 'संसार से निर्मुक्त' करानेवाले 'स्वयं-प्रकाश निश्चल ज्ञान' का निरूपण करती हैं—

"रहस्य-योगिनीर्देवि! संसार-दलनोज्ज्वले,
सर्व-रोग-हरे चक्रे, संस्थिता वीर-वन्दिते!"

(योगिनी हृदय, ८.१६२)

इस 'चक्र' की 'चक्रेश्वरी' का नाम 'त्रिपुरा-सिद्धा' है। वह 'त्रिपुटी' से उत्पन्न निखिल 'संशयों' के 'अविषय' (परे) सर्वदा विद्यमान 'पर-शिव' के 'ध्यान' का निरूपण करती है—

"मान-मातृ-मेय-रूपाणां त्रिपुराणामुत्तीर्ण-परम-शिव-लक्षणां सिद्धिं ध्यायेत्।"

(योगिनी-हृदय, ८.१६४ टीका)

इस 'चक्र' की सिद्धि 'भुक्ति-सिद्धि' कहलाती है और 'इदन्ता अहन्ता' के बीच के पारस्परिक भेदों से निर्मुक्त होना तथा 'अत्ता चराचर-ग्रहणात्—इस 'ब्रह्म-सूत्र' के अनुसार 'इदन्ता' और 'अहन्ता' के मध्य एकता उप-स्थापित करना 'भुक्ति-सिद्धि' का अर्थ है—

शुद्ध - विद्या - विशुद्धिं च, भुक्ति - सिद्धिं महेश्वरि! "अहन्तेदन्तयोरैक्यमिति विद्या निगद्यते" इति परा पञ्चाशिकोक्त-रीत्या शिवाद्वैत-प्रथा-लक्षणायाः शुद्ध-विद्याया विशुद्धिः। "ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात् ज्ञानं परित्यजेत्" इति प्रतिपादित-रीत्या ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय विभाग-शून्य निर्विकल्प-बोध-लक्षण-परम-शिव-समावेशस्तद्-रूपिणी। अतएव भुक्ति-सिद्धिः।

"विश्वं शिवादि-भूम्यन्तं चमत्कार-रसाश्रयम्" इत्युक्त-रीत्या महा-भुक्तिः विश्व-विषयिणी स्व-साधकस्य सिद्ध्यति॥

(योगिनी-हृदय, ८.६४, टीका)

'सर्व-खेचरी मुद्रा' वह 'मानसिक वृत्ति' है, जो सब प्रकार के 'संशयों' से निर्मुक्त होकर 'सनातन ब्रह्म-स्वरूप' का अनुभव करती है।

इस 'चक्र' का 'आवरण-देवता-मनन-क्रम' में, उपासक की 'मानसिक वृत्तियाँ' अर्थात् 'मनन' करने पर जो 'उपासक' की 'मन की

वृत्तियाँ' होती हैं, वे इस '**चक्र**' की '**आवरण-देवता**' हैं। ये '**देवता**' वैदिक '**श्रुतियों**' के आकार की हैं, जैसे कि नीचे वर्णन किया गया है—

वैदिक मन्त्र

१. वशिनी	वह '**मन्त्र-शक्ति**' है, जो यह निश्चय करती है कि समस्त जगत् '**आत्मा**' से अभिन्न '**ब्रह्म**' का स्वरूप है अर्थात् '**ब्रह्म-मय**' है।
२. कामेश्वरी	'**आत्मा**' से अभिन्न '**ब्रह्म**' के स्वरूप का निरूपण करनेवाली '**श्रुति**'।
३. मोदिनी	'**ब्रह्म**' से अभिन्न '**आत्मा**' के '**ज्ञान**' के (आत्म-ज्ञान के) परिणाम को प्रकट करनेवाली '**श्रुति**'।
४. विमला	वह '**श्रुति**' है, जो '**अज्ञान**' के '**अध्यास**' पर विजय प्राप्त करने में सहायता करती है और उसके भीतर निहित '**चित्**' का भी निर्णय करती है।
५. अरुणा	'**जीव**' और '**ब्रह्म**' की एकता को घोषित करनेवाली '**श्रुति**'।
६. जयिनी	'**सत्य**' की '**अखण्डैकता**' का उपदेश देनेवाली (सिखानेवाली) '**श्रुति**'।
७. सर्वेश्वरी	'**जीवन्मुक्ति**' का निरूपण करनेवाली '**श्रुति**'।
८. कौलिनी	'**विदेह-मुक्ति**' का वर्णन करनेवाली '**श्रुति**'।

उपर्युक्त आठ शक्तियाँ '**वाग्-देवता**' हैं, जो '**शब्द-प्रमाण**' के निर्माता '**शास्त्रों**' का निरूपण करती हैं तथा उक्त देवता (शक्तियाँ) **मातृकाओं के स्वरूप** (आकार) हैं अर्थात् '**अक्षर-स्वरूपिणी**' भी हैं।

आयुधार्चन

इसके अनन्तर '**पद्धति**' '**सप्तम**' और '**अष्टम आवरण**' के मध्य में और उसके (अष्टमावरण) के '**पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण**' में '**कामेश्वर**' और '**कामेश्वरी**' के '**वाण, धनुष, पाश**' और '**अङ्कुश**' —इन '**चार आयुधों**' की '**पूजा**' का यथा-क्रम निर्देश करती है।

अतः इन '**आयुधों की पूजा**' '**मनन**' के निरूपक '**सप्तमावरण**' के अनन्तर '**निदिध्यासन**' के निरूपक '**अष्टमावरण**' के पूर्व की जाती है। अतः

यह प्रत्यक्ष है कि '**आयुधों**' को '**मनन**' के '**परिणाम**' का प्रकाशन तथा '**निदिध्यासन**' की सहायता करनी चाहिए। यह पहले बताया जा चुका है कि '**मनन**' करने से सब प्रकार के '**संशय**' दूर हो जाते हैं। '**सन्देह-निवृत्ति**' से '**मन**' शुद्ध होकर '**अन्तरावलोकन**' का प्रारम्भ करता है तथा '**आत्मा**' की प्रत्यक्ष प्राप्ति के लिए योग्य हो जाता है—

विशुद्ध-बुद्धेः परमात्म-वेदनं, तेनैव संसार-समूल-नाशः॥

(विवेक-चूड़ामणि, १५०)

'**आयुधों**' का विशिष्टार्थ '**ललिता-सहस्त्रनाम**' में निम्न-लिखित प्रकार से दिया है—**कोदण्ड** (धनुष)—मन, '**पञ्च-बाण**'-पञ्च-तन्मात्राएँ, **पाश**—इच्छा और **अंकुश**—घृणा है।

मनो-रूपेक्षु-कोदण्डा, पञ्च-तन्मात्र-सायका।
राग-स्वरूप-पाशाढ्या, क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला॥

यदि यह प्रश्न किया जाए कि '**आत्म-ज्ञान**' में उपर्युक्त '**आयुध**' किस प्रकार उपयोगी हो सकते हैं, तो इसका उत्तर नीचे दिया जाता है—

'**पाँच सूक्ष्म तत्त्व**' पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों के लिए हैं। यदि इनका उचित रीति से नियन्त्रण कर इन्हें '**मन**' में विलीन कर दिया जाए, तो यह '**बाह्य विषयों**' से विमुख होकर '**अन्तर्मुख**' हो जाएगा। '**अन्तर्मुखी वृत्ति**' होने पर '**आत्म-ज्ञान की प्राप्ति**' में अत्यन्त अनुराग और संसार के प्रति पूर्ण घृणा बढ़ाई जा सकती है। अतः उपर्युक्त '**मानसिक अवस्था**' के निरूपक '**आयुध**' निःसन्देह '**आत्म-ज्ञान**' में सहायता प्रदान करते हैं।

इस विषय में '**दूसरी व्याख्या**' भी सम्भव हो सकती है। '**चार आयुध**' '**निदिध्यासन**' और '**समाधि**' के मार्ग में '**लय, विक्षेप, कषाय**' और '**रसास्वाद**'—इन '**चार विघ्नों के विनाशक**' हो सकते हैं।

१. '**पाश**'—'**कषाय**' का निरूपण करता है। येन-केनाप्युपायेन '**आत्मा**' की प्राप्ति की प्रबल इच्छा '**पाश**' है। इसके द्वारा '**कषाय**' को पैदा करनेवाले '**अनात्म-विचारों**' का नियन्त्रण होता है।

२. '**अङ्कुश**' '**लय**' (निद्रा) का विनाशक है। '**नाम**' और '**रूप**' से विनिर्मित (नाम-रूप-मय) '**अनात्म-भाव**' के लिए घृणा करना '**अङ्कुश**' है।

३. '**धनुष**' '**विक्षेप**' का क्षय करता है। '**धनुष**' शुद्ध '**मन**' की '**अन्तर्मुखी वृत्ति**' है क्योंकि '**शुद्ध चित्**' में बाह्य उद्योगिता नहीं रहती। '**विक्षेप**' को पैदा करनेवाली '**वासना**' उसमें (मन में) पैदा ही नहीं होती।

४. '**पञ्च-बाण**' '**रसास्वाद**' का निरास करते हैं, जिनसे '**जितेन्द्रियत्व**' का निरूपण होता है। '**पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय**' अपने इच्छादि विषयों से पराङ्मुख होने पर '**मन**' में निमग्न हो जाते हैं और ऐसी दशा में पुनः '**रसास्वाद**' के लिए कोई अवसर नहीं रह जाता।

इस प्रकार '**आयुध**', '**अष्टमावरण**' में निरूपित '**निदिध्यासन**' के '**अन्तरायों**' का निराकरण कर मार्ग सुसज्जित करते हैं।

अष्टमावरण : त्रिकोण

'**परमात्मा**' के साथ '**जीवात्मा**' की एकता-प्राप्ति के लिए '**मनन**' द्वारा '**दृढ़ ज्ञान**' की सहायता से '**निदिध्यासन**' करना चाहिए—

मननोदित-विज्ञानात्, परमात्मैक्य-सिद्धये।
निदिध्यासन-रूपं हि, विहितं तदुपासनम्॥

('तत्त्व-सारायण'-उपासना-काण्ड)

अतः इस '**अष्टम आवरण**' से '**निदिध्यासन**' का निरूपण होता है—'**अभानापादकावरण**' **के कारण उत्पन्न मुझे** '**पर-शिव**' **का अनुभव नहीं होता**— इस प्रकार के '**मिथ्या बोध**' को '**निदिध्यासन**' विनष्ट कर देता है—

"**कृत-श्रवण-मननस्य अपरोक्षात्म-ज्ञान-प्रतिबन्धकाभाना वृत्ति-रूप-विपरीत-भावना-निवृत्त्यर्थं निदिध्यासा कर्तव्या॥**"

सांसारिक पदार्थों की ओर प्रवृत्त (झुकी हुई) '**मन की वृत्तियों**' का उच्छेदन कर '**आत्म-चिन्तन**' की ओर उनकी प्रवृत्ति का प्रसार करना—'**निदिध्यासन**' कहलाता है। '**मनन**' द्वारा विनिश्चित '**आत्मा**' में '**शुद्ध सत्त्व**' से परिपूर्ण '**मन**' का दृढ़ता के साथ '**स्थिरीकरण**' ही '**निदिध्यासन**' है। '**समाधि**' निदिध्यासन की '**अन्तिम अवस्था**' है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष उसकी गणना '**निदिध्यासन**' में करते हैं अर्थात् उसे (समाधि को) भी '**निदिध्यासन**' समझते हैं और उसको प्रथम सहायक नहीं मानते। शास्त्रों का सिद्धान्त है कि '**अयमात्मा ब्रह्म**'—यह '**आत्मा**' ब्रह्म है, यह अनुभव, जो '**शुद्ध त्रिपुटी**' के साथ संश्लिष्ट है, '**निदिध्यासन**' को सूचित

करता है और सम्मुख प्रत्यक्ष प्रतीत होनेवाला '**अहं ब्रह्मास्मि**' —यह अनुभव '**सविकल्प समाधि**' का निरूपण करता है। '**निर्विकल्प समाधि**' वह '**अवस्था**' (दशा) है, जिसमें '**त्रिपुटी**' का नि:शेषतया अभाव हो जाता है अर्थात् '**निर्विकल्प समाधि**' में '**त्रिपुटी**' का अत्यन्ताभाव हो जाता है।

'**निदिध्यासन**' में बड़े प्रयत्न से '**आत्माकार-वृत्ति**' का सम्पादन होता है। जिस प्रकार वृक्ष की शाखा तब तक ही यत्न-पूर्वक अवनामित होती है, जब तक कि वह हाथ से पकड़ी हुई रहती हैं। जब उसे झुकाने का प्रयत्न दूर किया जाता है, तो शाखा पुन: अपनी वास्तविक अवस्था में आ जाती है और उस पर जो टेढ़ांपन हाथ के पकड़ने से आ जाता है, वह तनिक भी नहीं रह जाता। एवमेव '**निदिध्यासन**' में भी जब '**आत्माकार-वृत्ति**' धारण करने का प्रयत्न बन्द कर दिया जाता है, तब तत्क्षण ही उपासक की '**अनात्माकार-वृत्ति**' हो जाती है। जैसे पुन: पुन: अवनामित तरु-शाखा सर्वदा के लिए भुग्न हो जाती है (झुक जाती है), वैसे ही '**निदिध्यासन**' के बार-बार के अभ्यास से '**मन**' विपरीत '**अनात्माकार**' -विचारों की ओर जाना बन्द कर देता है और सर्वदा के लिए '**आत्माकार**' बन जाता है। इस विषय में निम्न-लिखित '**ब्रह्म-सूत्र**' (४.१.१.१२) जो कुछ कहते हैं, वह ध्यान देने के योग्य है—

आवृत्ति-रस-कृदुपदेशात्, आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्।

शास्त्रों का सिद्धान्त है कि यदि '**निदिध्यासन**' सफल हो जाता है, तो '**वासना-क्षय, मनोनाश**' और '**तत्त्व-ज्ञान**'— सब एक साथ प्राप्त हो जाते हैं—

वासना-क्षय-विज्ञान-मनोनाशा महा-मते!
सम-कालं चिराभ्यस्ता, भवन्ति फलदा इमे॥

(अन्नपूर्णोपनिषद)

'**वासना-क्षय**' के बिना '**मनोनाश**' नहीं होता और '**मनोनाश**' हुए बिना '**तत्त्व-ज्ञान**' का होना असम्भव है तथा '**तत्त्व-ज्ञान**' के बिना '**वासना का विनाश**' नहीं होता। अत: ये तीनों उक्त प्रकार से एक दूसरे के अधीन हैं। अत: इन सबका अभ्यास एक ही साथ युग-पदेन होना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से '**ब्रह्म**' और '**आत्मा**' के ऐक्य की प्रत्यक्ष प्राप्ति तत्काल हो जाती है। कुछ शास्त्र '**ब्रह्मात्मैक्य-प्राप्ति**' में '**शान्ति, सन्तोष**' और '**विचार**' को मुख्य सहायक मानते हैं और कुछ इसी प्रकार '**वैराग्य, उप-रति**' तथा

'**बोध**' को आवश्यक बताते हैं। एक ही प्रकार से परिणाम '**ब्रह्मात्मैक्य-प्राप्ति**' पैदा करने में परिगणित उपर्युक्त **प्रकार-त्रय** का समूह (गण) अर्थात् '**एक**' और शब्दत: '**विभिन्न**' रूप-मय माना जाता है।

'**जीव**' और '**ब्रह्म**' की '**एकता**' ही '**सर्व-सिद्धि**' कही जा सकती है। वही '**सिद्धि**' इस '**चक्र**' में प्राप्त होती है। अतएव इस '**चक्र**' का नाम '**सर्व-सिद्धि-प्रद चक्र**' है।

यह यथार्थ है कि इस '**चक्र**' की '**चित्-शक्ति**' अपने '**अध्यास**' के अनुरूप '**अति-रहस्य-योगिनी**' कही जानी चाहिए क्योंकि वह '**शुद्ध आत्माकार-वृत्ति**' के साथ संश्लिष्ट है, जो (आत्माकार-वृत्ति) अत्यन्ताधिक उन्नतावस्था को प्राप्त '**मानसिक वृत्ति**' है।

'**निदिध्यासन**' के साथ संयुक्त मानसिक अवस्था '**स्थूल, सूक्ष्म**' और '**कारण शरीर**' से भी परे है। अतएव यह यथार्थ में '**तुरीयावस्था**' अथवा '**चतुर्थावस्था**' कही जा सकती है, जिसमें सर्व-व्यापक '**एकता**' का शुद्ध सात्त्विक अनुभव होता है। जिस '**चित्-शक्ति**' के ऊपर वह अनुभव अध्यासित है, वह इस '**चक्र**' की नायिका '**त्रिपुराम्बा**' (तीन पुरों की माता) '**चक्रेश्वरी**' कही जाती है—

वामादीनां पुराणां तु, जननी त्रिपुराम्बिका।

(योगिनी-हृदय, ८.१७०)

यह दृढ़ विश्वास है कि जगत् '**जीव**' और '**पर**' से बने हुए विश्व की सृष्टि के पूर्व केवल '**शुद्ध सत्ता**'-स्वरूप—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**'—एक '**चित्-शक्ति**' थी और वह केवल अपनी इच्छा से इस विश्व को पैदा करती है। यह केवल '**निदिध्यासन**' की अवस्था में सम्पन्न होती है, जिसमें समस्त '**अनात्म-विचार**' नि:शेषतया अविद्यमान रहते हैं। अत: यह केवल वह '**इच्छा-सिद्धि**' और '**सर्व-बीजा** (सबकी मूल कारण) **मुद्रा**' है, जो इस '**चक्र**' को व्याप्त किए रहती है अर्थात् इस '**चक्र**' की '**सिद्धि**' का नाम '**इच्छा-सिद्धि**' और '**मुद्रा**' का नाम '**सर्व-बीजा मुद्रा**' है।

इस '**चक्र**' के '**चार आवरण-देवताओं**' में से '**महाकामेश्वरी**' वासना-क्षय का, '**महा-वज्रेश्वरी**' मनोनाश का, '**महा-भग-मालिनी**' तत्त्व-ज्ञान का और '**महा-त्रिपुर-सुन्दरी**' ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान का निरूपण करती हैं। यद्यपि '**महा-त्रिपुर-सुन्दरी**' समाधि के निरूपक '**नवम-आवरण**' अथवा

'बिन्दु-चक्र' की 'चक्रेश्वरी' हैं, तथापि वे इस 'चक्र' के 'आवरण-देवताओं' के साथ परिगणित की गई हैं क्योंकि 'सविकल्प समाधि' निदिध्यासन की पूर्णता-मात्र है। अतः इन 'दो चक्रों' को पृथक् करना अनुचित है। भास्कर राय कहते हैं—"इन दोनों का आपस में समवाय-सम्बन्ध है।" अतः ये दोनों अविभेद्य हैं—

'अष्टा-चक्रा नव-द्वारा'-इति श्रुतौ बिन्दु-चक्रस्य त्रिकोण-चक्र एवान्तर्भावमभिप्रेत्य चक्राष्टकत्व-कथनमिति.......।

(योगिनी-हृदय, ८.१६७, टीका)

यह आवरण 'सत्वापत्ति' और 'असंसक्ति' नामक 'चतुर्थ' और 'पञ्चम ज्ञान-भूमिका' का निरूपण करता है। जिस अवस्था में 'सत्' अथवा 'ब्रह्म' की प्राप्ति होती है, उसे 'सत्त्वापत्ति' और जिस अवस्था में शरीर और पदार्थ-मय संसार में 'अनासक्त' रहने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, उसे 'असंसक्ति' कहते हैं। ये दोनों १५१वें पृष्ठ पर निर्दिष्ट 'अभानापादकावरण' के अवशिष्टांश विपरीत भावना को विनष्ट कर देते हैं।

'सप्तमावरण' में 'ब्रह्म' के 'अपरोक्ष ज्ञान' के दो प्रतिबन्धक—'संशय' और 'अष्टमावरण' के पराजय से 'ब्रह्म-ज्ञान' की प्राप्ति अत्यन्त शीघ्र सम्भव हो सकती है।

नवम आवरण : बिन्दु

'श्रीचक्र' के मध्य भाग में एक 'बिन्दु' है। उसी को 'नवम आवरण' कहते हैं। शास्त्र इसको 'सविकल्प समाधि' अथवा 'तुरीयावस्था' घोषित करते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में 'तुरीयावस्था' का निरूपण निम्न-लिखित प्रकार किया गया है—

प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्म स विज्ञेयः।

'समाधि' का वर्णन उपनिषदों के अधोलिखित वाक्यों में किया गया है—

अहमेव पर-ब्रह्म, ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः, सर्व-वृत्ति-निरोधकः॥
निर्विकारतया वृत्त्या, ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्ति-विस्मरणं सम्यक् -समाधिरभिधीयते॥
यत् समत्वं तयोरत्र, जीवात्म-परमात्मनोः।
समस्त-नष्ट-सङ्कल्पः, समाधिरभिधीयते॥

ब्रह्माकार-मनोवृत्ति-प्रवाहोऽहंकृतिं बिना।
सम्प्रज्ञात-समाधिः, स्याद् ध्यानाभ्यास-प्रकर्षतः॥

'त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्' 'समाधि' का स्वरूप-निरूपण करता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ और ब्रह्म मैं स्वयं हूँ। इस प्रकार का 'अपरोक्ष अनुभव', जिसमें सब प्रकार के संशय और भ्रम दूर हो जाते हैं, 'समाधि' कहलाती है और वह सब मनोवृत्तियों की निरोध करनेवाली अर्थात् रोकनेवाली (नाश करनेवाली) है।'

'तेजोबिन्दु उपनिषद्' कहता है कि **'समाधि-अवस्था'** में वीचि-विहीन (निस्तरङ्ग) समुद्र के समान शान्त शुद्ध मन **'निदिध्यासन'** की परिपक्वावस्था से समस्त **'अनात्म-वृत्तियों'** को पूर्णतया भुलाकर **'ब्रह्म'** में स्थिर हो जाता है।

'सौभाग्य-लक्ष्मी-उपनिषद्' बताता है कि जिस समय **'मन'** अपनी सम्पूर्ण वासनाओं को त्याग देता है तथा समस्त सङ्कल्पों को विनष्ट कर देता है, उसी समय **'जीव'** और **'ब्रह्म'** की एकता का अनुभव तत्क्षण हो जाता है।

'निदिध्यासन' के अभ्यास की अधिकता से **'अध्यास-रूप अहङ्कार'** विनष्ट हो जाता है तथा **'मन'** शुद्ध सात्त्विक बन जाता है और **'आत्म-ज्ञान'** की विचार-धारा अविरल बहने लग जाती है। इस अवस्था को ही **'सम्प्रज्ञात समाधि'** कहते हैं।

'बिन्दु-चक्र' 'सविकल्प समाधि' की दशा का निरूपण करता है। इस **'चक्र'** में **'कामेश्वर'** और **'कामेश्वरी'** निवास करते हैं। **'कामेश्वर'** महा-वाक्य में **'तत्-पद'** से निरूपित **'निर्गुण ब्रह्म'** है और **'कामेश्वरी'** महा-वाक्य के **''त्वं''** पद से निरूपित **'कूटस्थ-साक्षी संवित्'** है।

स्व-संवित् त्रिपुरा देवी, लौहित्यं तद्-विमर्शनम्।
(नित्या-षोडशिकार्णव, ५.४१)

इस **'चक्र'** का नाम **'सर्वानन्द-मय चक्र'** है। इससे सब **'आनन्द'** और **'परमानन्दों'** का निरूपण होता है। **'आनन्द'** का वर्णन निम्न-लिखित उपनिषद्-वाक्यों में आया है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।

अतएव 'पद्धति' में "**बिन्द्वभिन्न पर-ब्रह्मात्मके बिन्दु-चक्रे**"—इस प्रकार लिखा है। यहाँ निम्न-लिखित उद्धरण भी ध्यान देने योग्य है—

वेदक-वेद्ययोरहन्तेदन्तयोः शक्ति-शिवयोरभेदैक्य-विमर्श-भूमिरेव बिन्दु-चक्रमिति ज्ञेयम्।

यह '**बिन्दु-चक्र**' ही '**काम-कला**' है। यह (**काम-कला**) '**शब्द**' और '**विचार**' से परे है अर्थात् इसको न '**शब्द**' वर्णन कर सकते हैं और न '**मन**' ही इसका चिन्तन कर सकता है। अतएव इस '**बिन्दु-चक्र**' की '**योगिनी**' '**परापर-रहस्य**' (अत्यन्त गुप्त) '**योगिनी**' कही जाती है।

जिस प्रकार '**द्वैतता**' से अध्यासित '**जगत्**' अपने '**स्थूल, सूक्ष्म**' और '**कारण-शरीरों**' से प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है, उसी प्रकार **विद्या-प्रपञ्च** '**विद्या-स्थूल, विद्या-सूक्ष्म**' और '**विद्या-महा-कारण**'—इन '**त्रिविध शरीरों**' के '**अध्यास**' का निरास करता (दूर करता) है। ये यथा-क्रम '**मनन, निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' हैं, जिन्हें '**सप्तम, अष्टम**' और '**नवम आवरण**' क्रमशः निरूपित करते हैं। अतएव ये '**तीन विद्या त्रिपुर-चक्र**' कहलाते हैं।

यदि '**सुषुप्तावस्था**' अथवा '**अविद्या**' कारण-शरीर का निरूपण करनेवाली '**तृतीयावरण**' की '**चक्रेश्वरी**' का नाम साधारणतया '**त्रिपुर-सुन्दरी**' है, तो '**सविकल्प समाधि**' अथवा '**विद्या महा-कारण शरीर**' की निरूपिका '**नवम आवरण**' '**बिन्दु-चक्र**' की '**चक्रेश्वरी**' का नाम भी '**महा-त्रिपुर-सुन्दरी**' यथार्थ ही है। '**आवरण-देवताओं**' की पूजा के भीतर छिपा हुआ विज्ञान तथा उनका (**आवरण-देवताओं का**) वास्तविक अर्थ और '**श्री-चक्र**' की आध्यात्मिक '**विद्या**' के विषय में इन पृष्ठों पर जो कुछ वर्णन किया गया है, उसको न्याय-सङ्गत बनाने के लिए उपर्युक्त '**त्रिपुर-सुन्दरी**' और '**महा-त्रिपुर-सुन्दरी**' का परस्पर भेद, अकेला ही पर्याप्त है।

इस '**बिन्दु-चक्र**' की '**आवरण-देवता**' केवल '**पर-देवता**' ही हैं और वे '**सच्चिदानन्द-पराहन्ता**' हैं, '**नान्यत् किञ्चन मिषत्**' और '**नेह नानाऽस्ति किञ्चन**' इत्यादि श्रुतियाँ यहाँ ध्यान देने के योग्य हैं। इस '**चक्र**' की '**सिद्धि**' का नाम '**प्राप्ति-सिद्धि**' है क्योंकि यह '**सिद्धि**' '**तुरीयावस्थातीत निर्गुण ब्रह्म**' की प्राप्ति करानेवाली है अर्थात् देनेवाली है—

"**तुरीयातीत-पद-पर-शिव-विश्रान्ति-लक्षणा-सिद्धिं प्रापयति ददातीति प्राप्ति-सिद्धिः॥**"

'**सर्वयोगिनी-मुद्रा**' '**शिव-शक्ति-सामरस्य**' अथवा '**जीव-ब्रह्मैक्य**' के कारण अनुभूत '**ब्रह्मानन्दावस्था**' का निरूपण करती है। किसी भी प्रकार से '**बिन्दु-चक्र**' का '**त्रिकोण**' के साथ सम्बन्ध न होने के कारण वह पृथक् '**चक्र**' है, अतएव वह '**समाधि**' का निरूपण करता है। इस '**समाधि**' को ही '**माण्डूक्योपनिषद्-कारिका**' अस्पृश्य योग बताती है।

तुरीया विद्या

'**तुरीया विद्या**' '**सविकल्प समाधि**' में अथवा '**तुरीयावस्था**' में अनुभव की गई '**जीव**' और '**ब्रह्म**' की '**एकता**' अथवा '**शिव-शक्ति-सामरस्य**' का निरूपण करती है। यह '**तुरीया विद्या**' वह '**विद्या**' है, जिसको शास्त्र '**महा-पूर्ति-विद्या**' कहते हैं। इसको ही '**सर्वोच्च प्रकाश श्रीविद्या**' कहते हैं और यह वह '**अवस्था**' है, जिसमें '**सर्व-व्यापिनी विमर्श-शक्ति**' भी '**महा-प्रकाश**' में निमग्न हो जाती है।

'**अद्वैतता**' का अनुभव ही '**सर्वानन्द-मय चक्र**' है। इसी को '**महोड्यान-पीठ**' भी कहते हैं—

"**ततःपूर्वापरे व्योम्नि, द्वादशान्तेऽच्युतात्मके।**
ओड्याण-पीठे निर्द्वन्द्वे,निरालम्बे निरञ्जने॥"

(योग-शिखोपनिषद्)

यह '**तुरीया विद्या**' '**तुरीयावस्था**' के '**अधिष्ठान**' का निरूपण करती है। यही '**पर-ब्रह्म**' है, जो '**प्रकाश**' और '**विमर्श**' का संयोग (**समाधि**) है। यह '**अमृत**' का उच्च-तम स्वरूप '**मोक्ष**' है। यह वह परम अद्वितीय '**अवस्था**' है, जो समस्त मन्त्रों, निखिल पीठों अथवा मानसिक दशाओं, सब प्रकार के योगों, सर्व-भाषाओं, सम्पूर्ण सिद्धियों, सब वीरों अथवा ज्ञानियों से परे है और उनका नियन्त्रण करती है। इस अवस्था को '**सापेक्षित निर्विकल्प समाधि**' कहते हैं।

इस '**चक्र**' की '**सिद्धि**' और '**मुद्रा**' का नाम यथा-क्रम '**सर्व- काम-सिद्धि**' और '**सर्व-त्रिखण्डा मुद्रा**' है। '**सर्व-काम-सिद्धि**' वह अवस्था है, जिसमें '**आत्मा**' और '**ब्रह्म**' की '**एकता**' की प्राप्ति की '**अभिलाषा**' भी अनुपस्थित रहती है अर्थात् '**ब्रह्मात्मैक्य**' की इच्छा भी दूर हो जाती है।

'सर्व-त्रिखण्डा मुद्रा' उस अवस्था का निरूपण करती है, जिसमें **'त्रिखण्ड'** अर्थात् **'तीन मण्डलों'** से बना हुआ जगत् (९६वाँ) **'अखण्ड आत्मा'** में जले हुए वस्त्र के समान (जिस पर दग्धावस्था में भी सूक्ष्म तन्तु-रेखाएँ दिखाई देती हैं) अथवा चित्र-पट के **'चित्र'** की भाँति प्रतीत होता है। यह **'अवस्था'** **'जीवन-मुक्तावस्था'** का निरूपण करती है। इस अवस्था में **'अज्ञान'** का **'आवरण-भाग'** अपने **'असत्त्वापादकावरण'** और **'अभानापादकावरण'** नामक दोनों **'रूपों'** के **'साथ'** ज्ञान से दूर कर दिए जाते हैं और केवल **'विक्षेप'** बाकी रह जाता है। मरु-भूमि में जल का मिथ्या भ्रम' **'बाधितानुवृत्ति'** (निराकरण करने पर भी किसी बात का बार-बार भ्रम होना) के कारण बराबर बना रहता है, यद्यपि वह पीछे पूर्णतया समझ जाता है कि वहाँ न जल है और न हो सकता है। मध्याह्न-काल के समय मरु-भूमि में भी जब तक नेत्र सूर्य-किरणों को चमकते हुए देखा करते हैं, तब तक उसमें मरीचिकाओं की विद्यमानता अनिवार्य होती है। यह **'सोपाधिक भ्रान्ति'** कही जाती है। **'जीवन-मुक्त'** भी उक्त प्रकार से ही संसार को देखता है। जब तक वह शरीर धारण करता है, तब तक संसार उसकी दृष्टि में बराबर आता रहेगा, किन्तु वह संसार के अनुभव से शोक को प्राप्त नहीं होता। अतः वह अपने **'अनुभव'** के लिए पुनः **'कर्म'** नहीं करता और न संसार में उसका **'पुनर्जन्म'** होता है। **'भर्जित'** (भुना हुआ) अन्न बुभुक्षा को तो शान्त कर सकता है, किन्तु यदि वह बोया जाए, तो उसमें अंकुर नहीं आ सकता। **'जीवन-मुक्त पुरुष'** भी **'संसार'** का उपयोग इसी प्रकार करता है। इस प्रकार **'नवम आवरण'** की पूजा, **'सविकल्प समाधि'** तथा **'जीवन-मुक्त'** की दशा का निरूपण करती है।

२. पञ्च-पञ्चिका पूजा

'पूजा-पद्धति' आगे दर्शाती है कि **'बिन्दु-चक्र'** के ऊपर **'सिंहासन'** के रूप में एक के ऊपर द्वितीय एवं क्रमशः तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम स्थापित किए गए **'पाँच पीठों'** की कल्पना कर इनमें से प्रत्येक **'पीठ'** में **'पाँच-पाँच देवियों'** की पूजा करनी चाहिए। ये **'पाँच पीठ'** किसका निरूपण करते हैं, इस विषय का **'वासना-सम्बन्धी'** लेखों में से किसी भी लेख में उल्लेख नहीं किया गया है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि **'बिन्दु-चक्र'** **'सविकल्प समाधि'** का निरूपण करता है और उक्त **'पाँच पीठ'** **'बिन्दु-चक्र'** के ऊपर कहे गए

हैं। अतः यह बहुत सरलता से बताया जा सकता है कि '**सविकल्प**' और '**निर्विकल्प समाधि**' अथवा '**सहज स्थिति**' के मध्य में '**पाँच अवस्थाएँ**' (मञ्जिल या पड़ाव) विद्यमान हैं। इस प्रकार की '**पाँच अवस्थाओं**' का वर्णन तथा व्याख्या सन् १८३१ से १८७८ के बीच अन्तिम शताब्दी में विद्यमान '**दक्षिण भारत**' के '**ब्रह्म-निष्ठ**' **कोडगनल्लुर सुन्दर स्वामी** ने तमिल भाषा की पुस्तक में विस्तार से की है।

ये '**पाँच अवस्थाएँ**' क्रमशः '**१. साम्य, २. लय, ३. विनाश, ४. अत्यन्ताभाव** और **५. ऐक्य**' नामक हैं—

(अ) '**साम्य अवस्था**' वह अवस्था है, जिसमें '**जीवोपाधि शुद्ध सूक्ष्म त्रिपुटी**' का केवल आभास दिखाती हुई दुग्ध में जल के समान '**अखण्ड ब्रह्मोपाधि**' में विलीन हो जाती है। प्रयाग-राज की '**त्रिवेणी**' में यद्यपि '**यमुना**' का श्याम जल और '**गङ्गा**' का श्वेत जल आपस में मिल गए हैं, तथापि प्रवाह में कुछ दूर तक '**श्याम रङ्ग**' का अवलोकन होता है। एवमेव इस '**समाधि**' में भी कुछ काल तक '**शुद्ध सूक्ष्म त्रिपुटी**' का आभास प्रतीत होता है।

(ब) '**लय**' वह अवस्था है, जिसमें '**शुद्ध सूक्ष्म त्रिपुटी**' का भी लय हो जाता है और केवल **एक भाव** (सत्ता) अवशिष्ट रह जाता है।

(स) '**विनाश**' उस दशा को कहते हैं, जिसमें '**अखण्डाकार- वृत्ति**' अथवा '**अखण्डोपाधि**' बिल्कुल विनष्ट हो जाती है।

'**निवृत्ति**' दो प्रकार की होती है—एक '**लय-निवृत्ति**' और दूसरी '**नाश-निवृत्ति**' अर्थात् '**गाढ़ निद्रा**' में संसार का अदर्शन '**लय-निवृत्ति**' और '**तुरीयावस्था**' में संसार का विनाश (अदर्शन) '**नाश-निवृत्ति**' कहलाता है। भाग (ब) में केवल '**अखण्डोपाधि**' की '**लय-निवृत्ति**' है और यहाँ उसकी (अखण्डोपाधि की) '**नाश-निवृत्ति**' है।

(द) '**अत्यन्ताभाव**' वह दशा है, जिसमें किसी समय भी '**चेतना-शक्ति**' में '**जीव-ज्ञान, ब्रह्म-ज्ञान**', '**अखण्ड ज्ञान**' आदि '**भेद-भावनाओं के अभाव**' का अनुभव होता है। उक्त प्रकार की भावनाएँ '**स्वभाव-स्थिति**' से पृथक् मानी जाती हैं और वे '**नित्य**' नहीं होतीं, किन्तु '**आगन्तुक**' होती हैं।

(इ) '**ऐक्य**'—वास्तविक अनुभव की कुछ पुस्तकें '**ऐक्य**' को '**अतीतोदित**' अथवा '**अनामाख्य**' (नाम-रहित) कहती हैं क्योंकि इसको

'बोधातीत' कहना भी उचित नहीं होगा। इस विषय पर विचार करना भी कठिन है और **'यह इस प्रकार है'**—ऐसा वर्णन करना तो और भी कठिन है।

'पञ्च-पञ्चिका' की व्याख्या का एक प्रकार उपरि-निर्दिष्ट है। इन **'पञ्च-पञ्चिकाओं'** की व्याख्या प्रकारान्तर से निम्न-लिखित है—

प्रथम पञ्चिका	**बाह्य दृश्यानुबिद्ध समाधि**
द्वितीय पञ्चिका	**बाह्य-शब्दानुबिद्ध समाधि**
तृतीय पञ्चिका	**अन्तर्दृश्यानुबिद्ध समाधि**
चतुर्थ पञ्चिका	**अन्तश्शब्दानुबिद्ध समाधि**
पञ्चम पञ्चिका	**निर्विकल्प समाधि**

समाधिं सर्वदा कुर्याद्, हृदये वाऽथवा बहिः।
सविकल्पो निर्विकल्पः, समाधिर्द्विविधो हृदि॥
दृश्य-शब्दानुभेदेन, सविकल्पः पुनर्द्विधा।
कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्-साक्षित्वेन चेतनम्॥
ध्यायेद् दृश्यानुबिद्धोऽयं, समाधिः स-विकल्पकः।
असङ्गः सच्चिदानन्दः, स्व-प्रभो द्वैत-वर्जितः॥
अस्मीति शब्द-बिद्धोऽयं, समाधिः स-विकल्पकः।
स्वानुभूति - रसावेशादृश्य - शब्दाद्यपेक्षितुः॥
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्,निवात-स्थित दीप-वत्।

(सरस्वती-रहस्योपनिषद्)

३. षड्-दर्शन-विद्या

'षड्-दर्शन-विद्या-ज्ञान' ही **'चित्-शक्ति'** है और वह **'चित्-शक्ति'** **'ब्रह्म'** से भिन्न नहीं है अर्थात् **'चित्-शक्ति'** और **'ब्रह्म'** एक ही हैं। **'ब्रह्म'** बौद्ध, वैदिक, शैव, सौर, वैष्णव और शाक्त दर्शनों में से प्रत्येक दर्शन का **'अधिष्ठात्री देवता-रूप'** है। यही **'अधिष्ठात्री देवता'** ब्रह्म-स्वरूपा **'चित्-शक्ति'** तद्-तदुपासकों के ऊपर अपनी अनुकम्पा वितीर्ण करती है अर्थात् उपर्युक्त **'षद्-दर्शनों'** में से प्रत्येक दर्शन का मूल स्तम्भ **'ब्रह्म'** है और **'ब्रह्म'** तथा **'चित्-शक्ति'** एक ही हैं, वे विभिन्न नहीं हैं।

४. षडाधार-पूजा

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में **१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपुर, ४. अनाहत, ५. विशुद्धि** और **६. आज्ञा**—ये **'षट्-चक्र'** विद्यमान हैं।

इनके पीछे ही '**चित्-शक्ति**' स्थित रहती है। इन '**चक्रों**' के नाम शास्त्रकार यथा-क्रम—१. '**शाकिनी**', २. '**काकिनी**', ३. '**लाकिनी**', ४. '**राकिनी**', ५. '**डाकिनी**' और ६.'**हाकिनी**' बताते हैं। '**उपाधियों**' की विभिन्नता के कारण इन '**नामों**' में विभिन्नता आ गई है। उपर्युक्त '**षड्-योगिनियाँ**' ही **१. गणेश, २. ब्रह्मा, ३. विष्णु, ४. रुद्र** (सदा-शिव), **५. जीव और ६. परमात्मा** के रूप में मानी जाती हैं। इस '**षडाधार-पूजा**' से यह पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि '**असंख्य देवता**' केवल स्वयं '**परा शक्ति**' के ही बाह्य रूप हैं।

५. आम्नाय-समष्टि-पूजा

१. '**दक्षिणाम्नाय**'-शब्द का अर्थ '**वेद**' है—**२. पूर्वाम्नाय, ३. पश्चिमाम्नाय** और **४. उत्तराम्नाय**—ये चार '**आम्नाय**' यथा-क्रम **१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. अथर्व-वेद** और **४. साम वेद** हैं—

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते, दक्षिणामाहुर्यजुषां मनीषिणः।
अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची, साम्नामुदीची महती दिगुच्यते॥

'**आम्नाय-रहस्य**' और '**आम्नाय-सार-संग्रह**' में लिखा है कि '**ऊर्ध्वाम्नाय**' उपनिषदों का '**वाच्यार्थ**' और '**अनुत्तराम्नाय**' उनका (उपनिषदों का) '**लक्ष्यार्थ**' है।

'**आम्नाय-पूजा**' का अन्तिम अभिप्राय यह दृढ़ निश्चय है कि '**अहं ब्रह्मास्मि**'—इस '**महा-वाक्य**' में '**अहं**' पद का लक्ष्यार्थ '**ब्रह्म**' से अभिन्न '**चित्-शक्ति**' ही '**कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड**' और '**ज्ञान-काण्ड**'-सहित वेदों का महान् उद्देश्य है।

इन '**षडाम्नायों**' में सप्त कोटि '**महा-मन्त्र**' विद्यमान हैं और वे '**मन्त्र**' '**ब्रह्म-स्वरूपिणी चित्-शक्ति**' का ही वर्णन करते हैं।

दण्ड-नाथादि-नामावल्यर्चन

इस विषय में '**दण्ड-नाथा, मन्त्रिणी**' और '**ललिताम्बा**' की नामावली समाविष्ट है। उक्त '**शक्ति-त्रय**' की नामावली '**ब्रह्माण्ड-पुराणान्तर्गत ललितोपाख्यान**' में दी गई है।

'**महा-वाराही**' अथवा '**दण्ड-नाथा**' (सेना-नायिका) '**महा-वाक्य**' में '**अहं**' पद के '**वाच्यार्थ**' की सङ्कलन-रूपा (वाच्यार्थात्मिका), '**पर-देवता**' '**श्रीमहा-त्रिपुर-सुन्दरी**' का '**अहङ्कार-तत्त्व**' है, '**मन्त्रिणी**' अथवा '**श्यामला**' '**बुद्धि-तत्त्व**' है और '**ललिताम्बा**' स्वयं '**पर-देवता**' हैं।

गौडपादाचार्य के सूत्रों की व्याख्या में **शङ्करारण्य** लिखते हैं कि '**चित्-शक्ति**' के नाम से प्रसिद्ध '**पर-ब्रह्म**' की '**शक्ति**' ने इस '**विश्व**' को उत्पन्न किया है, जिसमें '**देवता, मनुष्य**' आदि अन्य '**सब जीव**' सम्मिलित हैं। उनको (देव-मनुष्यादियों को) परम सुख प्रदान करने के लिए तथा स्व-सेवकों को '**धर्मार्थ-काम-मोक्ष**' -वितरणार्थ और '**भण्डासुर**' (अज्ञान) के संहारार्थ केवल उस '**चित्-शक्ति**' ने '**देवी**' का ही रूप धारण नहीं किया, अपितु '**धर्म की संस्थापना**' के लिए भी बहुत सी '**शक्तियों**' के स्वरूप को धारण किया है।

सहस्त्र-नाम और त्रिशती

यह आवश्यक है कि '**सहस्त्र-नाम**' और '**त्रिशती**' का आध्यात्मिक अर्थ समझकर '**निदिध्यासन**' के लिए उन पर विचार किया जाए। '**पूजा-सङ्केत**' शीर्षक (पृष्ठ ३४) में यह पहले ही वर्णित किया गया है कि '**पूजा**' वास्तव में '**ब्रह्म**' और '**आत्मा**' की '**एकता**' का '**प्रत्यक्षीकरण**' है। अतः इन '**नामों**' से '**पूजा**' करना यथार्थ में '**निदिध्यासन**' और '**समाधि**' है। '**श्रीमाता**'—इस नाम से प्रारम्भ होकर '**ललिताम्बिका**' -नाम से समाप्त '**श्रीललिताम्बा**' के '**सहस्त्र-नाम**' तथा '**ककार-रूपा**'- नाम से लेकर '**ह्रींकार-पर-सौख्यदा**' —इस अभिधान-पर्यन्त सब '**नामों**' को '**चतुर्थ्यन्त**' बनाकर उनके अन्त में '**नमः**'-पद जोड़ देने से उक्त '**नाम**' '**महा-मन्त्र**' बन जाते हैं, यथा '**श्रीमात्रे नमः**', '**ककार-रूपायै नमः**' इत्यादि।

६. धूप, दीप, नैवेद्य इत्यादि

१२३वें पृष्ठ पर '**चतुःषष्ट्युपचारों**' के वर्णन में उपरि-लिखित '**तीनों विषयों**' की उपयोगिता वर्णित की गई है। यहाँ उनकी व्याख्या भिन्न दृष्टि-कोण से की जाती है—

'**एकाग्र मन**' की '**शक्ति**' से, समस्त '**शब्द-स्पर्शादि**' विषयों के साथ '**ब्रह्म-रूप-आत्मा**' का '**एकीकरण**', '**धूप**' है—

समस्त-विषयाणां मनसः स्थैर्येण सर्वदा स्वीकरणं धूपः।

(भावनोपनिषद्)

निर्धूम अङ्गार में '**लोबान**' आदि पदार्थों के डालने से जो सुगन्धित धूम उत्पन्न होता है, उसको ही '**धूप**' कहते हैं। जिस प्रकार '**लोबान**' अथवा अन्य सुगन्धित पदार्थ अङ्गारों में फेकने पर उनकी सुगन्ध पृथक् हो जाती है,

उसी प्रकार '**शब्द, स्पर्श**' आदि '**विषयों**' को '**ब्रह्म**' से अभिन्न '**आत्म-रूपी चिदग्नि**' में भस्म कर देने पर '**ज्ञान-योग**' के महत्त्व-रूपी '**आमोद**' (गन्ध) का अनुभव होता है। ठीक जिस प्रकार एक कुसुमित वृक्ष के पुष्पों की सुगन्ध उसके कई कोसों तक व्याप्त हो जाती है, एवमेव पवित्र '**आत्म-ज्ञानी**' की महत्ता चतुर्दश लोकों में अनुभूत होने लगती है—

यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति।

(नारायणोपनिषद्)

'**दीप**'-वृत्ति ज्ञान अथवा स्वयं-प्रकाश '**ब्रह्म**' के साथ '**आत्मा की एकता**' का सम्पादन करनेवाला '**ध्यान**' करने से उत्पन्न '**ज्ञान-दीप**' है। उस '**वृत्ति-ज्ञान**' के बिना बाहर और भीतर—चारों ओर व्याप्त '**अज्ञानान्धकार**' का नाश नहीं होता है। जिस प्रकार '**प्रकाश**' अन्धकार का शत्रु है, उसी प्रकार '**वृत्ति-ज्ञान**' अज्ञानान्धकार का शत्रु है। इस '**वृत्ति-ज्ञान**' को '**अखण्डाकार-वृत्ति**' भी कहते हैं—

सु-प्रकाशो महा-दीपः, सर्वत्र तिमिरापहः।
स बाह्याभ्यन्तर-ज्योतिर्दीपोऽयं प्रति-गृह्यताम्॥

नैवेद्य—पञ्च-भूतों से बने हुए शरीर का अवास्तविकता से उसके '**स्थूल रूप**' का अदर्शन तथा उसके (शरीर के) **सच्चिदानन्द-स्वरूप** का ज्ञान करना ही ३६वें पृष्ठ के अनुसार '**नैवेद्य**' का तत्त्व है अर्थात् शरीर के अयथार्थ '**स्थूल रूप**' को न देखकर उसको (शरीर को) '**सच्चिदानन्द-स्वरूप**' समझना ही '**नैवेद्य**' का तत्त्व है। यहाँ '**शरीर**' शब्द के साथ '**भोक्ता, भोग्य**' और '**भोग**'—इन तीनों को भी सम्मिलित कर देना चाहिए। '**पूजा-पद्धति**' कहती है कि—"**नैवेद्य-जातं तादात्म्येन समर्पयेत्**" अर्थात् '**पर-देवता**' को '**नैवेद्य**' तादात्म्य- भाव से निवेदन करना चाहिए। '**तादात्म्य**' का अर्थ '**काल्पनिक**' (कल्पित किया हुआ) भेद और '**वास्तविक**' अभेद है। '**अध्यासित नाम**' और '**रूप**' की काल्पनिक भेद-भावनाओं को भुलाना और वास्तविक '**सच्चिदानन्द**' का ज्ञान '**तादात्म्य**' का अधिगम है।

'**नैवेद्य**' में उपर्युक्त दोषों के निराकरण के लिए '**पूजा की पद्धति**' में निम्न-लिखित संस्कार दिए गए हैं—

१. 'मूल-मन्त्र' का उच्चारण कर 'नैवेद्य' पर देखना—इस प्रकार 'नैवेद्य' के पदार्थों को देखने से उपासक के सम्मुख दृश्य पदार्थों का अधिष्ठान 'चेतन' तथा 'प्रमाता' (देखनेवाले) की 'चेतना'—दोनों मिलकर 'प्रमेय' के ज्ञान को बना देते हैं। इस निरीक्षण से 'पदार्थ' (नैवेद्य की वस्तु) 'ज्ञान' में परिणत हो जाता है।

२. प्रोक्षण (जल से सेचन)—

(१) 'अस्त्र-मन्त्र' (फट्) से 'नैवेद्य' का 'प्रोक्षण'। 'अस्त्र-मन्त्र' के उच्चारण से 'नैवेद्य' में समर्पित पदार्थों में 'भेद-भाव' से उत्पन्न करने-वाले 'नाम' और 'रूप' के 'अध्यासों' का निराकरण किया गया है।

(२) 'अमृत-मृत्युञ्जय-मन्त्र' से पुनः 'नैवेद्य' का 'अमृतीकरण' किया जाता है। मृत्यु को जीतनेवाला केवल एक 'अमृत' है। यह 'अमृत' सत्य है, जो भूत और भविष्य तथा वर्तमान—इन तीनों कालों में खण्डित नहीं हो सकता। अतः 'पद्धति' में लिखित मन्त्र से यह बात प्रत्यक्ष है कि 'नैवेद्य' का 'तत्त्व' (सार) 'सत्' है। अर्थात् 'नैवेद्य' 'सत्-रूप' है—

चित्-पात्रे सद्धविः सौख्यं, विविधानेक-भक्षणम्।

इस सम्बन्ध में 'पद्धति' बताती है कि 'नैवेद्य' में 'चक्र-मुद्रा' दर्शानी चाहिए। इसका आशय यह है कि 'ब्रह्म-ज्ञान' ही 'चक्र' है। 'अखण्डाकार-वृत्ति' ही 'ब्रह्म-ज्ञान' है अर्थात् उपासक की 'अखण्डाकार-वृत्ति' होना ही 'ब्रह्म-ज्ञान' होना है—

हृदय-ग्रन्थिरस्तित्वे छेदने ब्रह्म-चक्रकम्।

(३) 'दोष-निरसन' अथवा 'अपवित्रता का दूरीकरण' 'नैवेद्य-पदार्थों' में जो चक्षुओं की 'रूप-ग्राहकता', नासिका की 'गन्ध-ग्राहकता' और रसना की 'रस-स्वादकता' है, वही उनकी 'अपवित्रता' है। यह अपवित्रता वायु-बीज 'यं' से सुखाकर अग्नि-बीज 'रं' से भस्म कर 'अमृत-बीज' 'वं' से आप्लावित कर तथा 'विशेषार्घ्य-बिन्दु' से सींचकर, अन्त में 'मूल-मन्त्र' द्वारा दूर की जाती है। इस प्रकार 'नैवेद्य' के पदार्थ 'संस्कृत' हो जाने के कारण 'अपवित्रता' दूर कर सब 'चित्' बन जाते हैं।

(४) 'काम-धेनु-मन्त्र' से 'नैवेद्य' का संस्कार—जो सम्पूर्ण अभिलाषाओं को पूर्ण कर देती है, उसे 'काम-धेनु' कहते हैं। 'काम-धेनु' वह अवस्था है, जिसमें किसी वस्तु के प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं होती।

इसको '**आप्त-कामत्व**' कहते हैं और यह '**आप्त- कामत्वावस्था**' केवल '**आत्म-ज्ञानियों**' को ही प्राप्त होती है। '**आत्मलाभत्व एव आत्म-कामत्वम्**', '**काम-धेनु**' स्वयं '**पर-देवता**' है। जब '**नैवेद्य**' के पदार्थ '**निरुपाधिक चित्**' में निश्चित किए जाते हैं अर्थात् '**नैवेद्य**' के पदार्थ '**चिन्मय पदार्थ**' माने जाते हैं, तो वे यथार्थता में '**चित् - शक्ति**' अथवा '**काम - धेनु**' बन जाते हैं।

"**ॐ क्लीं काम-दुघे अमोघे वरदे विच्चे स्फुर स्फुर श्रीं पर-श्रीं**"—यह '**काम-धेनु मन्त्र**' है। इसका अर्थ निम्न-लिखित है—

हे काम-धेनु! तुम कभी भी अभिलाषा पूर्ण करने में असमर्थ नहीं होती अर्थात् तुम सबकी मनोकामना पूर्ण करती हो। तुम सब प्रकार के वरदान देनेवाली हो। तुम 'सच्चिदानन्द' हो। तुम प्रसन्न होकर मुझे 'मोक्ष' प्रदान करो। विच्चे—वित् (चित्) + च (सत्) + ई (आनन्द)।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि '**नैवेद्य**' के उक्त सब संस्कारों के अनुसार '**नैवेद्य की भावना**' करनी चाहिए, अर्थात् '**नैवेद्य**' को '**विद्या- मय**' जानना चाहिए। इसके अनन्तर '**पूजा-पद्धति**' में यह विधान बताया गया है कि '**नैवेद्य**' के समीप एक पात्र पर '**विशेषार्घ्य-बिन्दु**' रखना चाहिए। यह केवल '**नैवेद्य**' में '**विद्या-मयत्व**' की भावना का दृढ़ीकरण है।

'**नैवेद्य**' के पदार्थों को '**पूजा-स्थल**' से अवसारण के पूर्व '**पद्धति**' दर्शाती है कि उसमें से (नैवेद्य से) किञ्चित् मात्र पदार्थ लेकर '**बलि- पात्र**' में '**बलि**' देने के लिए रख देना चाहिए, जैसा कि आगामी '**नवम खण्ड**' में दर्शाया जाएगा।

कुल-दीप

'**कुल**'= '**त्रिपुटी**' (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय), '**दीप**'='**ज्ञान**' अथवा '**चेतन**'। '**शुद्ध चेतन**' के ऊपर अध्यासित काल्पनिक भेदों के कारण '**त्रिपुटी**' उपस्थित होती है। '**स्थूल**' और '**सूक्ष्म जगत्**' के वर्णन के अनुसार '**त्रिपुटी**' बाह्य और आभ्यन्तर-भेद से दो प्रकार की है। दोनों प्रकार की '**त्रिपुटियाँ**' अविद्या के कारण उत्पन्न होती हैं। अतएव उनका परिणाम अपवित्र होता है—

अन्तस्तेजो बहिस्तेज, एकीकृत्यामित-प्रभम्।
त्रिधा दीपं परिभ्राम्य, 'कुल-दीपं' निवेदये॥

'**कुल-दीप**' निवेदन करने के उपर्युक्त '**मन्त्र**' का अर्थ निम्न-लिखित है—

"**आन्तर त्रिपुटी**" के अधिष्ठान '**ज्ञान**' और '**बाह्य त्रिपुटी**' के अधिष्ठान '**ज्ञान**' को अर्थात् '**दोनों ज्ञानों**' को एक रूप कर (मिलाकर) अमित-ज्योति-पूर्ण '**कुल-दीप**' को तीन बार घुमाकर '**मैं सादर निवेदन करता हूँ**' '**बाह्य**' और '**आन्तर त्रिपुटियों**' की एकता केवल उनके '**आश्रय**' (आधार) को देखकर ही सम्भव है। इस प्रकार के '**ऐक्य**' से '**अखण्ड**' और '**अमित-प्रभा-ज्योति**' का '**ज्ञान**' (पहिचान) हो सकता है। उपासक को इस '**अखण्ड ज्योति**' का ध्यान तीन बार करना चाहिए और अन्त में इस '**ध्यान**' को भी, जो वास्तविक रूप में '**अखण्डाकार-वृत्ति**' है, '**महा-प्रकाश**' में समर्पित कर देना चाहिए अर्थात् उसी में विलीन हो जाना चाहिए।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि पहला ध्यान '**बाह्य त्रिपुटी**' के नाश करने के लिए है, दूसरा ध्यान '**अपवित्र आन्तर त्रिपुटी**' के लिए और अन्तिम ध्यान '**शुद्ध त्रिपुटी**' के उच्छेदन के लिए है। अर्थात् '**तीन बार ध्यान**' करने से '**तीनों त्रिपुटियों**' का विनाश हो जाता है।

कर्पूर-नीराजन

'**नीराजन**' का अर्थ '**कर्पूर**' की चमकीली ज्वालाओं से '**आत्मा से अभिन्न पर-देवता**' को प्रकाशित करना है। यह '**शास्त्रों**' का निश्चित सिद्धान्त है कि '**स्वयं-प्रकाश चित्-शक्ति**' को प्रकाशित करनेवाला दूसरा '**प्रकाश**' (ज्योति) नहीं है—

> **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं,**
> **नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
> **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,**
> **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥** (मुण्डक, २.१०)
> **न तद्-भासयते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः।** (गीता, १५.६)

अतः '**चित्-शक्ति**' को '**नीराजित**' करने का अर्थ केवल उसमें '**माया**' अथवा '**अविद्या के आवरण**' का निराकरण करना है और इस प्रकार '**अविद्या का निराकरण**' केवल '**विद्या**' (ज्ञान) द्वारा ही हो सकता है। तदनुसार '**कर्पूर**' की ज्वाला '**अखण्डाकार-वृत्ति**' का निरूपण करती है। जिस प्रकार जलता हुआ '**कर्पूर**' अपने आपको पूर्णता से ज्वालाओं में जला कर समाप्त कर देता है और अपना कुछ भी अवशेष नहीं छोड़ता, उसी प्रकार '**अखण्डाकार-वृत्ति**' होने पर '**नाम-रूप-मय**' विचित्र '**जगत्**' भी अपने मूल कारण के साथ विनष्ट हो जाता है।

मन्त्र-पुष्प

'मन्त्र-पुष्प' अथवा **'मन्त्र-संस्कृत पुष्पाञ्जलि'** पर-देवता के लिए **मन्त्र-स्वरूप पुष्पों** से पूर्ण अञ्जलि समर्पण करना है। **'मन्त्र'** का अर्थ है, **"मननात् त्रायते इति मन्त्रः"** अर्थात् जो ध्यान करनेवाले मनुष्यों को दुःख-सागर से पार लगाता है। **'मन्त्र'** केवल **'जीव'** और **'ब्रह्म'** की एकता का निरूपण करनेवाला **'महा-वाक्य'** है। उसके विचार करने से उक्त प्रकार के **'मोक्ष'** की प्राप्ति होती है। **'ब्रह्म-विद्या'** एक वृक्ष के समान है। आत्म-गोचर वृत्तियाँ उसके पुष्प हैं, **'जीव'** और **'ब्रह्म'** के ऐक्य की प्रत्यक्ष प्राप्ति उसका फल है। तदनुसार **'पुष्पाञ्जलि'** अखण्डाकार-वृत्ति का निरूपण करती है। यह स्पष्टतया समझना चाहिए कि **'वृत्ति'** का कार्य **'अज्ञान के आवरण'** को दूर करना है। इस **'आवरण'** के दूर होने पर **'स्वयं-प्रकाश ब्रह्म'** अपने आप व्यक्त हो जाता है। **'पद्धति'** में दिए गए **'पुष्पाञ्जलि'** के नौ पद्यों में से उदाहरण-स्वरूप एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है, जो उपर्युक्त बात की पुष्टि करता है—

निरावरण-संविदुद्गम-परास्त-भेदोल्लसत्-
पदास्पद-चिदेकता वर-शरीरिणि स्वैरिणि!
रसायन-तरङ्गिणी-रुचि-तरङ्ग-सञ्चारिणि,
प्रकाम-परिपूरणि! प्रसृत एष पुष्पाञ्जलिः ॥

हे माता! तू **'अविद्या'** के **'आवरण'** से रहित **'शुद्ध-संवित्-स्वरूपा'** है और समस्त **'भेद-भावनाओं'** के **'उच्छेदन'** से स्वयं प्रकट होनेवाली **'चित्-स्वरूपा'** है तथा अपनी महत्ता से स्वयं प्रकाशित होती है। तू **'ब्रह्मानन्द'** के सागर की तरङ्गों के ऊपर विचरण-शीला **'मोक्ष देने-वाली'** और **'अखिल अभिलाषाओं की पूर्ण करनेवाली'** है। मैं तेरे चरणों में भक्ति-पूर्वक इस **'पुष्पाञ्जलि'** को समर्पित करता हूँ अर्थात् चढ़ाता हूँ।

षष्ठ खण्ड का सार

विषय	**वासना।**
आवरण	**'नवावरण-पट्टिका'** के अनुसार।
पञ्च-पञ्चिका	**'साम्य'** इत्यादि **'समाधि'** अथवा **'अन्तर्दशानुबिद्ध'** इत्यादि **'समाधि।**

विषय	वासना।
षड्-दर्शन-विद्या	'चित्-शक्ति' ही 'षड्-दर्शनों' की 'अधिष्ठान' है।
षडाधार-पूजा	इस बात का ज्ञान कि 'सब देवता परा-शक्ति की ही परछाइयाँ' (प्रकाशन) हैं।
षडाम्नाय-पूजा	यह ज्ञान कि 'वेदों' का मुख्य 'लक्ष्य चित्-शक्ति' है।
दण्ड-नाथा अथवा महा-वाराही	'पर-देवता' का 'अहङ्कार-तत्त्व'।
मन्त्रिणी अथवा श्यामला	'पर-देवता' का 'बुद्धि-तत्त्व'।
सहस्र-नामादि-अर्चन	'निदिध्यासन' और 'समाधि'।
धूप	'चिदग्नि' में 'इन्द्रियों' के 'विषयों' का 'होम'।
दीप	वृत्ति-ज्ञान।
नैवेद्य	'नाम' और 'रूप' के विचारों को दूर कर 'सच्चिदानन्द-स्वरूप' का 'ज्ञान।
कुल-दीप	'अखण्डाकार-वृत्ति' का भी 'स्वयं-प्रकाश' में 'लय' कर देना।
कर्पूर-नीराजन	'चित्' में नाम-रूप मय 'जगत्' का विलय।
मन्त्र-पुष्प	'अखण्डाकार-वृत्ति' का 'सातत्य'।

❀ ❀ ❀

सप्तम खण्ड

काम-कला-ध्यान

इस खण्ड में केवल '**काम-कला**' और उसके ध्यान का वर्णन किया गया है। '**काम**'-'**कला**' '**शिव**' और '**शक्ति**' का '**सामरस्य**' अथवा वेदान्त में प्रसिद्ध '**जीव**' और '**ब्रह्म**' का '**ऐक्य**' है। इसका निरूपण दो स्वरूपों में किया गया है। अतएव इसके '**ध्यान**' भी दो प्रकार के हैं।

'**काम-कला**' के दो स्वरूपों में से एक स्वरूप दो अक्षरों—'**अहं**'-पद (शब्द) से व्यक्त किया जाता है—'**अहमाकाराख्य-सिद्ध-काम-कलाम्।**'

इस सम्बन्ध में '**सङ्केत-पद्धति**' के निम्न-लिखित दो श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

(१) अहमित्येकमद्वैतं, यत्-प्रकाशात्म-विभ्रमः।
'अकारः' सर्व-वर्णाग्र्यः, प्रकाशः परमः शिवः॥
हकारोऽन्त्यः कला-रूपो, विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।
अनयोः सामरस्यं यत्, परस्मिन्नहमि स्फुटम्।।

अर्थात् '**अहं**' एक अपूर्व भाव है। इसमें द्वितीय नहीं है। अकार '**अ**' वर्ण-माला का प्रथम अक्षर है और '**प्रकाश-रूप पर-शिव**' अथवा '**काम**' का वाचक है। '**ह**' वर्ण-माला का अन्तिम वर्ण है और यह '**विमर्श-रूप चित्-शक्ति**' अथवा '**कला**' का सूचक है। अतः '**अ**' और '**ह**'—इन दोनों अक्षरों का '**सामरस्य**' अर्थात् इन दो अक्षरों से बना हुआ '**अहं**' पद '**काम-कला**' है। '**अहं**' पद समस्त '**विश्व**' का तथा निम्न-लिखित श्रुति के अनुसार '**आत्मा**' का भी निरूपण करता है—

अशिरस्कं हकारान्तमशेषाकार-संस्थितम्।
अजस्रमुच्चरन्तं स्वं, तमात्मानमुपास्महे॥

(२) मन्दाधिकारियों को लाभ पहुँचाने के लिए कुछ शास्त्र '**काम-कला**'—'**अहं**' का निरूपण '**ई**'—इस एकाक्षर से करते हैं। वेदों ने इस '**ईकाराक्षर**' को '**प्रणव**' (ॐकार) का समानार्थक (पर्याय) दर्शाया है। जिस प्रकार '**ॐकार**' चार अवयवों के (अक्षर या मात्राओं के) संयोग से

बनता है, उसी प्रकार 'काम-कलाऽक्षर—ईं-कार' भी 'रक्त-बिन्दु, शुक्ल-बिन्दु, मिश्र-बिन्दु' और 'संवित्' (अथवा हार्ध-कला)—इन चार अवयवों से बनता है—

ईकारोर्ध्व-गतो बिन्दुः, मुखं भानुरधोगतौ।
स्तनौ दहन-शीतांशू, योनिर्हार्ध-कला भवेत्॥

स्वान्तर्गतानन्ताक्षर-राशि महा-मन्त्र-मयी पूर्णाहन्ता-मयी प्रकाशानन्द-सारा बिन्दु-त्रय-समष्टि-भूत-दिव्याक्षर-रूपिणी काम-कला नाम महा-त्रिपुर-सुन्दरी परम-योगिभिः महा-माहेश्वरैः अनिशमनु-स्मर्तव्येति॥ ('काम-कला-विलास', १.७ टीका)

ईकारस्य बिन्दु-विसर्गात्मनः शिव-शक्त्योः अकार-हकारयोः सामरस्य- रूपत्वात्। (तन्त्र-राजः- 'मनोरमा'-टीका)

'नित्या-षोडशिकार्णव' के निम्न-लिखित दो श्लोकों में 'काम-कला' के दोनों स्वरूपों का वर्णन किया गया है—

तामीकाराक्षरोद्धारां सारात्-सारां परात्पराम्।
प्रणमामि महा-देवीं, परमानन्द-रूपिणीम्॥
वन्दे तां अहं अक्षय्यां, क्षकाराक्षर-रूपिणीम्।
(नित्या-षोडशिकार्णव, १.८.१०)

'काम-कला-ध्यान' के स्थूल और सूक्ष्म-भेद से दो प्रकार हैं। स्थूल ध्यान की व्याख्या निम्न-लिखित पदों में वर्णित की गई है—

अग्र-बिन्दु परिकल्पिताननां, मध्य-बिन्दु रचित-स्तन-द्वयीम्।
नाद-बिन्दुरशना गुणास्पदां, नौमि ते पर-शिवे! परां कलाम्॥
मिहिर-बिन्दु-मुखीं तदधोलसच्छशि-हुताशन-बिन्दु-युग-स्तनीम्।
सह परार्द्ध-कला शनास्पदां, भजति नित्य-मिमां पर-देवताम्॥
मुखं बिन्दुं कृत्वा कुच-युगमधस्तस्य तदधो,
हरार्धं ध्यायेद् हर-महिषि! ते मन्मथ-कलाम्॥

'ईकाराक्षर' में 'मिश्र, रक्त' और 'शुक्ल बिन्दु' की भावना की गई है और उक्त बिन्दुओं में क्रमशः 'मुख, स्तन-मण्डल' और 'योनि' का चिन्तन (ध्यान) किया गया है और इन सबका 'आत्मा' के साथ 'ऐक्य' किया गया है अर्थात् इन सबको 'आत्म-स्वरूप' माना गया है। इस प्रकार 'बिन्दु-त्रयात्मक ईकार' की 'आत्म-तत्त्व-भावना' से 'परमानन्द' का अनुभव निश्चित है—

कारण-भूतयोः बिन्दु-विसर्जनीययोः ऐक्य-रूपस्यईकारस्य स्वात्मत्वेन भावनायां परानन्दानुभव इति।।

प्रकाश (अ)—**विमर्श** (ह)—आत्मक '**अहन्ता**' का ध्यान '**काम-कला**' का सूक्ष्म ध्यान है। इसमें (सूक्ष्म ध्यान में) इस बात का ध्यान किया जाता है कि यह '**आत्मा**' ब्रह्म है तथा '**समस्त विश्व**' इस '**ब्रह्माभिन्न आत्मा**' से ही उत्पन्न हुआ है और इसमें ही '**अवस्थित**' है तथा इसमें ही '**लय**' हो जाता है। यही बात '**कैवल्योपनिषद्**' में भी दर्शाई गई है—

मय्येव सकलं जातं, मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति, तद् ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥

यहाँ इस '**सूक्ष्म ध्यान**' का ही निरूपण करना आवश्यक है। शास्त्रों में किए गए उसके विविध वर्णनों से कुछ वर्णन निम्न-लिखित हैं—

सर्वदा त्वन्तरानन्दः, सर्व-तत्त्वौघ-निर्भरः।
शिवश्चिदानन्द-घनः, परमाक्षर-विग्रहः॥
स्वात्मैव सर्व-जन्तूनामेक एव महेश्वरः।
चित्-स्वरूपोऽहमित्येवमखण्डामर्श-बृंहितः॥

(प्रत्यभिज्ञा)

नात्र कालः कलाभावो, नैकता न च देवता।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं, रुद्र-वक्त्रं तदुच्यते॥
शिव-शक्तिरिति ख्यातं, निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
पश्यातीतं वरारोहे! वाङ्-मनोऽतीतमद्भुतम्॥
अनिष्कलं च सकलं, नीरूपं निर्विकल्पकम्।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं, शिवाख्यं परमं पदम्॥

(स्वच्छन्द-संग्रह)

बैन्दवे परमाकाशे, सच्चिदानन्द-लक्षणे।
निष्प्रपञ्चे निराभासे, निर्विकल्पे निरामये॥
अनुत्तर - चमत्कार - परामर्श - पवित्रिते।
निरुत्तर महा-शून्ये, शून्य-शून्यान्त-वर्जिते॥
स्त्री-पुं-नपुंसकाख्याभिः, कल्पनाभिरकल्पिते।
आदि-मध्यान्त-निर्मुक्ते भाव-पञ्चक-भासिते॥
सर्वोपमान - रहिते, प्रकाशानुभवात्मिके॥

(अमृतानन्द योगी)

चतुरण्ड महा-रत्न-मण्डितं विश्व-विग्रहम्।
क्षित्यादि-शिव-पर्यन्तं, व्याप्यावस्था-चतुष्टयम्॥
पिण्डं विभाव्य तन्मध्ये, सर्वातीत-घनां पराम्।
तुर्यातीतां चिदानन्द-रस-सारामनुत्तममाम्॥
तत्रापि स्वेच्छयोपात्त-जागरादि-दशां पराम्।
अशेष-संविदामन्तर्मुख विश्रान्ति-रूपिणीम्॥
अनन्त-कोटि-चन्द्रार्क-सन्निभां षोडशाधिकाम्।
स्वान्तर्गतैकतापन्न-षट्-त्रिंशत्-तत्त्व-सञ्चयाम्॥
सर्वोत्तीर्णां महा-बिन्दु-रूपामाराधयाम्यहम्॥

(चिदानन्द-वासना)

उपर्युक्त शास्त्र-वचनों की समीक्षा से (छान-बीन से) उपासक यह निश्चय कर सकता है कि '**काम-कला**' का ध्यान "**मैं पूर्ण हूँ**"—केवल यह विचार करना है। "**मैं पूर्ण हूँ**"—इस प्रकार विचारना ही '**अद्वैतावस्था**' है। उपर्युक्त विचार (**मैं पूर्ण हूँ**) अशेष शास्त्रों का सबसे बड़ा लक्ष्य है तथा उपासना का भी '**चरम लक्ष्य**' यही है।

'**पूजा-पद्धति**' में '**काम-कला**' शब्द स्वयं '**मन्त्र**' माना गया है। जिन अक्षरों से यह '**काम-कलात्मक मन्त्र**' बनता है, उनका विश्लेषण निम्न-लिखित प्रकार है तथा उन अक्षरों के अर्थ की व्याख्या '**पद्धति**' में पहले की जा चुकी है। उनका ज्ञान '**काम-कला**' के ध्यान को अवश्यमेव बढ़ाता है। अतएव उनका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है—

क् + अ + अ	=	**का**
म् + अ	=	**म**
क् + अ	=	**क**
ल् + अ + अ	=	**ला**

❀ ❀ ❀

अष्टम खण्ड

होम

यह खण्ड '**पूजा-पद्धति**' का '**परिशिष्ट**' है और '**होम**'-सम्बन्धी बृहद् **विधि** का वर्णन करता है, किन्तु यह खण्ड यह भी बतलाता है कि '**यज्ञ-कर्म**' उपासना की सुविधा के अनुसार '**आवश्यक**' और '**अनावश्यक**'—दोनों प्रकार का है। इसके अनुष्ठान में निःसन्देह पुण्य की प्राप्ति है, परन्तु न करने में पाप भी नहीं है।

'**हु**' धातु से यज्ञ-वाची '**होम**'—शब्द बनता है। इसका अर्थ '**दाता**' के अधिकार में रहनेवाली किसी वस्तु का '**समर्पण**' अर्थात् '**दान**' है, किन्तु इस शब्द का अर्थ '**यज्ञ**' की '**अग्नि**' में देवताओं के लिए '**आहुति**'-प्रदान में नियन्त्रित कर दिया गया है। यद्यपि इस प्रकार का '**बाह्य**' अथवा '**आन्तर होम**' उपासक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है, तथापि इसका '**आध्यात्मिक रूप**' अथवा '**आन्तर होम**' ध्यान न देने के योग्य नहीं है, अपितु उस पर ध्यान करना आवश्यक है। तदनुसार उसका यहाँ पर विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है।

'**पूजा-पद्धति**' प्रारम्भ में दर्शाती है कि '**होम**' की '**पूजा-वेदी**' गृह के उत्तर-पूर्व (ईशान कोण) में होनी चाहिए। '**होम-वेदी**' के लिए '**ईशान कोण**' का ही निर्देश क्यों किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर निम्न-लिखित पंक्तियों से भली-भाँति अवगत हो जाता है—

यह '**उपनिषदों**' का निश्चित सिद्धान्त है कि '**चित्-चन्द्र-मण्डल**' में एक '**सहस्रार**' है, जिसे '**आठ दिशाओं**' के बतानेवाले '**बृहदाकार आठ दल**' और उनमें से प्रत्येक '**दल**' में '**एक सौ पचीस पंखुड़ियाँ**' (दल) हैं। इस '**सहस्र-दल-कमल**' के '**बीज-कोष**' में (मध्य भाग में) '**मन**' की अनेक प्रकार की '**वृत्तियों**' से '**अष्ट-दल**' आदि को चलानेवाला '**हंस**' अथवा '**जीवात्मा**' निवास करता है। इन '**वृत्तियों**' के वर्णन में '**हंसोपनिषद्**' कहता है कि '**ईशान कोण**' के दल में '**जीवात्मा**' दान देने की और भोगों के परित्याग की अभिलाषा से व्याप्त रहती है—

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति, पूर्व-दले पुण्ये मतिः . . . .
ईशान्ये द्रव्य-दानं, त्याग-बुद्धिश्च, मध्ये वैराग्यम्।

'नारद-परिव्राजकोपनिषद्' भी दर्शाता है कि '**ईशान कोण**' में '**तत्त्व-ज्ञान**' अथवा '**यथार्थता**' का—'**सत्यता**' का '**ज्ञान**' उत्पन्न होता है—"**प्राग्-दले पुण्य-वृत्तिः. . . . . . ईशान्ये ज्ञानं, कर्णिकायां वैराग्यं, केसरेष्वात्म-चिन्ता।**" वस्तुतः दोनों का अर्थ एक ही है। क्या '**अध्यासों**' की और '**अनुराग**' (आसक्ति) का परित्याग '**आश्रय का ज्ञान**' नहीं है? अर्थात् '**अध्यासों**' में '**आसक्त**' न रहना ही '**आश्रय का ज्ञान**' है। '**याग-मन्दिर**' शुद्ध चित् का निरूपण करता है। अतः यह यथार्थ है कि इसका '**ईशान कोण**', जिसमें '**त्याग**' सर्वदा विद्यमान है, '**होम**' के लिए निर्दिष्ट किया गया है।

इस '**ज्ञानाग्नि**' में '**आहुति**' दी जानेवाली कौन सी वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि जो कुछ '**उपासक**' के पास है, उसी की '**आहुति**' कर देनी चाहिए। इतना ही नहीं, वरन् उसको अपने '**अहं-भाव**' को भी कि '**मैं इनका स्वामी हूँ**'—इस भाव की भी '**आहुति**' देकर इसमें '**भस्म**' कर देना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में उसे अपनी '**अहन्ता**' और '**ममता**' को भी अर्थात् '**मैं**' और '**मेरा**'—इन विचारों को भी '**ज्ञान की अग्नि**' में '**आहुति**' के रूप में डालकर जला देना पड़ेगा। यही '**ज्ञान**' शास्त्र का सिद्धान्त है, अतः '**आत्मा**' में '**अहन्ता**' और '**ममता**' —ये दोनों '**अविद्या**' के '**अध्यारोप**' हैं, अर्थात् '**अविद्या**' के कारण उसमें आए हैं। यथार्थ में '**अहन्ता**' और '**ममता**' आत्मा से सम्बन्ध नहीं रखती हैं। अतः '**अहन्ता**' केवल '**आत्मा**' से पृथक् '**तीन शरीरों**' और '**पञ्च-कोषों**' से सम्बन्ध रखनेवाला '**अहं-भाव**' है और '**ममता**' भीतर और बाहर की वस्तुओं से सम्बन्ध रखनेवाला '**ममत्व**' (यह भाव कि अमुक वस्तु मेरी है) है। '**मैं और मेरा**' —ये भाव ही बन्धन को बनाते हैं, अर्थात् बन्धन में डालते हैं। अतः इन '**भावों की आहुति**' देकर—'**ज्ञानाग्नि**' में डालकर इन्हें भस्म कर देना ही उचित है (**गीता, ४.३७**)—

ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि, भस्म-सात् कुरुते तथा।

निम्न-लिखित '**ज्ञानार्णव**' का पद्य भी इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है—

पराहन्ता-मये सर्व-ज्ञान-दीप-विजृम्भते।
संविदग्नौ हुनेद् देवि! प्रपञ्च-हविरुत्कटम्॥

इसके अनुसार '**विश्व**' का '**हवि**' (हवन-द्रव्य) बनाकर '**पराहन्ता**' अथवा '**आत्मा की अग्नि**' में उसे '**हवन**' कर देना चाहिए। '**ज्ञान-वाशिष्ठ**' और अन्य प्रमाणित ग्रन्थ घोषित करते हैं कि '**सङ्कल्प**' और '**विकल्पों**' से युक्त '**मन**' ही '**विश्व**' है। '**विश्व**' के निर्माता '**मैं**' और '**मेरा**' इन '**भावों के अध्यास**' का कारण '**मन**' ही '**आत्म-रूप संविदग्नि**' में (ज्ञान की अग्नि में) '**आहुति**' देने के लिए उपयुक्त द्रव्य अर्थात् '**हवि**' है—

अन्तर्निरन्तर मनिन्धन - मेधमाने,
मोहान्धकार - परि - पन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुत - मरीचि - विकास - भूमौ,
विश्वं जुहोमि वसुधादि-शिवावसानम्॥

(चिन्तामणि-स्तव, ५८.)

तावदग्नौ न होतव्यं, तत्तत्-तन्त्रोदितं यथा।
यावदात्म-महा-वह्नौ, मनः पूर्णाहुतिं हुनेत्॥

(नित्या-षोडशिकार्णव, ५.४०)

जब तक इस विश्व-रूपी '**मन**' का '**काल**' और '**स्थान**' अथवा '**पदार्थ-निष्ठता**' की सीमा से रहित '**आत्मा की अग्नि**' में पूर्णाहुति न की जाए, तब तक '**याज्ञिक विधियों**' से निर्दिष्ट '**बाह्य द्रव्यों**' की आहुतियाँ '**यज्ञाग्नि**' में प्रदान की गई उचित नहीं समझी जाती हैं। अर्थात् जब तक इस '**विश्व**' का '**आत्मा की आग**' में '**हवन**' नहीं किया जाता, तब तक '**जौ, तिल, घी**' आदि '**हवन-सामग्री**' से '**यज्ञाग्नि में हवन**' करना समुचित नहीं समझा जाता है, किन्तु '**मन**' का '**आत्मा की अग्नि**' में '**हवन**' करने पर '**बाह्य यज्ञ**' भी '**ज्ञान-यज्ञों**' के रूप को धारण कर लेता है, अर्थात् '**चिदग्नि**' में '**मन**' का हवन करनेवाले '**ज्ञानी उपासक**' का '**बाह्य यज्ञ**' भी '**ज्ञान-यज्ञ**' में सम्मिलित हो जाता है।

जब तक '**मन**' की '**वृत्तियाँ**' उठती रहती हैं, तब तक '**उपासक**' को उनसे छुटकारा पाने के लिए उसी समय '**उच्छेदन**' का (नाश का) प्रयत्न करते रहना चाहिए। जब वह निश्चय-पूर्वक अनुमान करने लगता है कि अब '**मन**' में '**वृत्तियों**' का उत्थान करनेवाली कोई '**वासना**' अवशिष्ट नहीं है, तब वह '**वासना-क्षय**' की दशा-पर्यन्त पहुँच जाता है। यह '**वासना-क्षय**' ही '**मनो-नाश**' है और यही उपर्युक्त '**होम की पूर्णाहुति**' है। यही भाव '**तन्त्र-राज**' में भी दर्शाया गया है—

''होमो विश्व-विकल्पानामात्मन्यस्त-मयो मतः।''

'विश्व' के समस्त 'विकल्पों' का 'आत्मा' में 'लय' कर देना ही 'होम' है। इसी 'भाव' को 'भावनोपनिषद्' निम्न-लिखित प्रकार से लिखता है—

अहं, त्वं, अस्ति, नास्ति, कर्तव्यं, अकर्तव्यं, उपासितव्यं—इति विकल्पानाम् आत्मनि विलापनं होमः।

'ज्ञानार्णव' अपने 'ज्ञान-होम-पटल' में नीचे लिखे प्रकार से कहता है—

पुण्य-पापे हविर्देवि! कृत्याकृत्ये हविः प्रिये!
सङ्कल्पश्च विकल्पश्च, धर्माधर्मौ हविस्तथा।।
जुहुयात् परमेशानि! आत्माग्नौ मनसा स्त्रुचा।

'उपासक' को 'आत्मा-रूपी अग्नि' में अर्थात् 'चिदग्नि' में 'मन-रूपी स्त्रुच्' (स्त्रुवा) से 'पुण्य' और 'पाप'—'कृत्य' और 'अकृत्य', 'सङ्कल्प' और 'विकल्प', 'धर्म' और 'अधर्म'—इन सबका हवन कर देना चाहिए। पुनः आगे दर्शाता है—

निष्प्रपञ्चो यदा देवि! जायते मन्त्र-वित्तमः।
तदा सच्चिन्मयः साक्षात्, केवलं ब्रह्म साधकः॥

जब 'वासना-क्षय' के कारण 'सांसारिक भेद-भाव' दूर हो जाता है, तो 'मनो-नाश' अपने आप हो जाता है और उसी समय 'तत्त्व-ज्ञान' अथवा 'सच्चिदानन्द-मय ब्रह्म-ज्ञान' उपासक को प्राप्त हो जाता है।

'ललितोपाख्यान' में यह वर्णन किया गया है कि 'सच्चिदानन्द-मयी ललिता' सर्व-संहार-याग में प्रकट हुई है। यह ललिता देवी की उत्पत्ति 'महा वाक्य' में 'अहं-पद' का लक्ष्यार्थ केवल पूर्वोक्त 'तत्त्व-ज्ञान' है।

चतुर्थ खण्ड के ११३-११४वें पृष्ठ पर आत्म-पात्र स्वीकारावसर पर 'आन्तरिक होम' की व्याख्या की गई है। उसका समन्वय इस 'होम' से करना चाहिए। इससे यह स्पष्टतया व्यक्त हो जाता है कि 'महा-याग' केवल 'जीव-भाव' से निर्मुक्त होना है।

❀ ❀

अष्टम खण्ड का सार

विषय	वासना
याग-मन्दिर	शुद्ध-चित्त मन।
महा-याग-मन्दिर का ईशान कोण	परित्याग की अभिलाषा।
होम-द्रव्य	सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन।
यज्ञ की अग्नि	'चिदग्नि' अथवा 'आत्मा'।

❀ ❀ ❀

नवम खण्ड

इस 'खण्ड' में निम्न-लिखित विषयों का वर्णन है—

१. बलिदान - प्रदक्षिणा - नामाक्षर-जप।

२. देवी-स्तोत्र।

३. सुवासिनी-पूजा - अलि-पात्र-दान।

४. सामयिक पूजा।

५. 'तत्त्व-शोधन' और **'हविः-प्रतिपत्तिः'।**

१. बलि-दान

'पूजा-पद्धति' लिखती है कि '**देवी**' के '**दक्षिण-भाग**' में '**सामान्यार्घ्य**' के जल से '**व्यापक मण्डल**' बनाकर उसके ऊपर (पृष्ठ १६८) पर उल्लिखित '**बलि-पात्र**' रख देना चाहिए। तदनन्तर '**ॐ ह्रीं सर्व-विघ्न-कृद्भ्यः सर्व-भूतेभ्यो हुं फट् स्वाहा**'—इस '**मन्त्र**' से '**तीन बार**' अभिमन्त्रित जल '**बलि**' के ऊपर सींचकर उसे '**भूतों के लिए समर्पित**' कर देना चाहिए।

किसी वस्तु (पदार्थ) का '**देवता**' के लिए समर्पण करना '**बलि-दान**' कहलाता है। इस अर्थ के अनुसार '**षष्ठ खण्ड**' में वर्णित '**नैवेद्य**' को '**बलि**' कहना उचित नहीं है। यद्यपि '**नैवेद्य**' और '**बलि**'—दोनों धार्मिक '**बलि-दान**' हैं, तथापि इनके विषय में निम्न-लिखित भेद दिखाया जाता है—

'**नैवेद्य**' के विषय में '**दाता**' स्वयं देवता को चढ़ाए हुए पदार्थ में से उसका (देवता का) '**प्रसाद**' मानकर उसे ग्रहण करता है, किन्तु '**बलि**' के विषय में '**बलि-दान-कर्ता**' उसमें से '**प्रसाद-रूप**' में '**भाग**' ग्रहण नहीं कर सकता। '**भगवद्-गीता**' '**नैवेद्य**' की प्रशंसा निम्न-लिखित प्रकार करती है—

यज्ञ-शिष्टाशिनः सन्तो, मुच्यन्ते सर्व-किल्बिषैः। (३.१३)
यज्ञ-शिष्टामृत-भुजो, यान्ति ब्रह्म सनातनम्॥ (४.३१)

अर्थात् जो '**यज्ञ**' के '**अवशिष्ट भाग**' को ग्रहण करते हैं अर्थात् '**प्रसाद-रूप**' में पाते हैं, वे पापों से निर्मुक्त होकर '**ब्रह्म**' में लीन हो जाते हैं।

'**बलि-दान**' शास्त्रोक्त विधि के '**नित्यानुष्ठान**' के मार्ग में बाधा पहुँचानेवाले '**भूतों के लिए**' किया जाता है। '**श्रीविद्या**' के '**ज्ञान-यज्ञ**' के विषय में

पृष्ठ-७४ पर पूर्व में लिखा जा चुका है कि यहाँ बाधा डालनेवाले (**बाधक**) '**द्वैतता के विचार**' हैं। इस प्रकार के विचारों—भावों का कारण '**औपाधिक अज्ञान**' है। '**मन्त्र-राज**' (३५.३) कहता है—

"**बलि-देव्यः स्व-मायाः स्युः।**"

'**सौभाग्यानन्दनाथ-टीका**' इसका अर्थ निम्न-लिखित प्रकार से करती है— '**स्व-मायाः अतस्मिन् तद् - बुद्धिं जनयित्वा उन्मार्ग - प्रवर्तिकाः शक्तयः।**'

अर्थात् उपासक को '**मिथ्या ज्ञान**' द्वारा '**विपरीत मार्ग**' पर ले जाने-वाली शक्तियाँ '**बलि-देवियाँ**' कहलाती हैं। '**मिथ्या ज्ञान**' अथवा '**अध्यास**' '**सोपाधिक**' और '**निरुपाधिक भेद**' से दो प्रकार का है। इसका साधारण उदाहरण क्रमशः '**रज्जु में सर्प की भ्रान्ति**' और '**मरु-भूमि में जल की भ्रान्ति**' है। इस प्रकार के '**भ्रान्ति-मूलक ज्ञान**' को पैदा करनेवाली तथा उसके आनुषङ्गिक फल—सुख और दुःख को देनेवाली शक्ति '**माया**' अथवा '**अज्ञान**' कहलाती है और यही '**भूत**' है, जिसके लिए '**बलि-दान**' किया जाता है।

इस प्रकार के दूषित प्रभावों को दूर करने के लिए प्रारम्भ में ही प्रार्थना की गई थी (पृष्ठ-७४) कि '**शिव की आज्ञा**' से उनका '**नाश**' हो जाए। इस '**प्रार्थना**' के पक्ष में '**भावों**' की चाहे जो कुछ '**शक्ति**' हो, पृष्ठ १६९ पर वर्णित '**बाधितानुवृत्ति**' के अनुसार '**मृग-तृष्णा**' की भाँति वे बार-बार उत्पन्न होते रहते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि '**अधिष्ठान-ज्ञान**' के अनन्तर भी इस प्रकार के '**भ्रान्ति-मूलक ज्ञान**' की दृढ़ता केवल '**उपाधि**' के कारण होती है। इस '**उपाधि**' के कारण ही '**जीवन-मुक्ति**' के लिए '**विश्व**' की उपस्थिति होती है। जिस प्रकार '**मृग-तृष्णा**' के लिए '**सूर्य-किरणें बालुका**' और देखनेवाले की '**आँखें**' इत्यादि सब '**उपाधि**' हैं, उसी प्रकार '**जीवन-मुक्त**' को उसका ('जीवन-मुक्त' का) शरीर '**विश्व की उपस्थिति**' के लिए '**उपाधि**' है। जब तक इस '**शरीर**' का '**प्रारब्ध-भोग**' समाप्त नहीं होता, तब तक यह '**शरीर**' विद्यमान रहता है और '**प्रारब्ध-भोग**' समाप्त होने पर '**शरीर**' भी समाप्त हो जाता है। '**जीवन-मुक्त पुरुष**' का '**प्रारब्ध**' समाप्त हो जाता है, अतः '**प्रारब्ध**' ज्ञान के लिए नहीं है। जिस समय '**जीवन-मुक्त पुरुष**' को '**तत्त्व-ज्ञान**' की प्राप्ति होने पर उसके '**शरीर**' में '**मैं और मेरा**' यह '**अध्यास**' विनष्ट हो जाता है, तत्काल में ही उसके

'**प्रारब्ध**' कर्मों का भी '**विनाश**' हो जाता है। अतएव चतुर्थाध्याय के ३७वें श्लोक में '**गीता**' कहती है—

"**ज्ञानाग्नि-सर्व-कर्माणि, भस्म-सात् कुरुते तथा।**"

'**ज्ञानाग्नि**' जीवन-मुक्त के सर्व कर्मों को '**भस्म**' कर डालती है, किन्तु दूसरे पुरुष यह समझते हैं कि '**ज्ञानी पुरुष**' का '**प्रारब्ध**' अभी कुछ-न-कुछ '**अवशिष्ट**' है। पृष्ठ-११० पर उद्धृत '**मनीषा-पञ्चक**' के श्लोकानुसार '**ज्ञानी**' अपने '**शरीर**' को '**प्रारब्ध**' के लिए समर्पित कर देता है और '**ज्ञानी**' का '**शरीर**' ही केवल उसके (ज्ञानी के) '**प्रारब्ध**' का अवशेष है और यह स्वीकृत किया गया है कि '**विश्व की उपस्थिति**' के लिए शरीर '**उपाधि**' है। इस प्रकार की '**उपस्थिति**' जब तक '**शरीर**' विद्यमान रहता है, अवश्यम्भाविनी है।

'**विश्व की उपस्थिति**', जो पहले ज्ञान की प्राप्ति में ज्ञान की '**प्रतिबन्धक**' थी, वह ज्ञान प्राप्त होने पर वास्तव में उसकी '**विघ्न-कर्त्री**' नहीं है। '**विश्व**' की उपस्थिति '**विक्षेप-शक्ति**' के कारण होती है। पृष्ठ-८३ पर यह बताया जा चुका है कि '**अज्ञान**' की दो शक्तियाँ हैं, जिनके नाम—'**आवरण**' और '**विक्षेप**' हैं। '**विक्षेप-शक्ति**' ही '**आवरण-शक्ति**' में मिलकर '**कर्म-बन्धन**' पैदा करती है। अकेली '**विक्षेप-शक्ति आवरण-शक्ति**' के बिना '**बन्धन**' पैदा करने में असमर्थ है। '**जीवन-मुक्त**' के लिए '**विश्व की उपस्थिति**' आवरण-शक्ति से रहित '**विक्षेप-शक्ति**' के कारण होती है। अतः '**आत्म-ज्ञान**' द्वारा '**आवरण**' पहले ही विनष्ट कर दिया जाता है। '**विश्व**' का रूप तथा '**शरीर**' जो '**उपाधि**' है—उसका कारण केवल '**मन**' है। अतः केवल अकेला '**मन**' '**भूत**' है और '**बलि-दान**' उसकी प्रसन्नता के लिए है। यही इसका '**महा-रहस्य**' है।

'**पद्धति**' में लिखा है—"**बलि-पात्रे निवेदन-सामग्रीः किञ्चित्-किञ्चदादाय**" अर्थात् निवेदन-सामग्री में से थोड़ा निकालकर '**बलि-पात्र**' में '**भूत-बलि**' देनी चाहिए। यह विदित होता है कि '**अज्ञान के अंश**' अर्थात् '**नाम**' और '**रूप**' ही '**नैवेद्य**' के पदार्थ '**पर-देवता**' के लिए समर्पित किए गए हैं और वे '**पदार्थ**' ही यहाँ पर '**बलि-दान**' के लिए भी उपस्थित किए गए हैं। अर्थात् उनमें से ही '**बलि**' दी गई है। '**आत्मा**' से अभिन्न '**चित्-शक्ति**' के साथ जिनकी एक-रूपता की जा सकती है, उन '**पाँच**

अंशों' में से 'अस्ति, भाति ' और 'प्रिय'—ये तीन अंश हैं। 'नाम' और 'रूप' जड़ हैं। अतएव 'चेतनता' के साथ उनकी 'एकता' नहीं हो सकती—

अस्ति भाति प्रियं रूपं, नाम चेत्यंश-पञ्चकम्।
आद्य-त्रयं ब्रह्म-रूपं, जगद्-रूपं ततो द्वयम्॥

'बलि-दान' से पूर्व 'बलि-स्थापन' के लिए 'व्यापक मण्डल' बताया गया है। वह (व्यापक मण्डल) केवल 'अखण्डाकार-वृत्ति' है। उसी के ऊपर (बलि) दी गई है।

'ॐ' और 'ह्रीं'—इन दो 'प्रकाश' और 'विमर्श-प्रणवों' से 'नाम' और 'रूप' को हटाकर उपासक को उन्हें विघ्न-कारी 'भूतों' के लिए दे देना चाहिए और उनको (भूतों को) 'बलि' देकर बहुत दूर निकाल देना चाहिए। ''हुं फट् स्वाहा''—ये 'बलिदान-मन्त्र' के 'बीज' भूतों के 'निराकरण' की सूचना देते हैं।

इस प्रकार 'बलि-दान-निवेदन' के अनन्तर 'पूजा-पद्धति' 'प्रदक्षिणा, नमस्कार' और 'जप' का निरूपण करती है।

'प्रदक्षिणा' का महत्त्व स्थूल अथवा जड़ रूप का परित्याग तथा इन्द्रिय-विषयों के 'नाम' और 'रूप' की ओर 'मन' अपनी जिन 'मानसिक वृत्तियों' द्वारा पहुँचने का प्रयत्न करता है, उनको भी 'ब्रह्म' में लीन कर देता है। अर्थात् 'स्थूल रूप' का परित्याग कर 'मन की वृत्तियों' का 'लय' करना, 'प्रदक्षिणा' का महत्त्व है।

'नाम' और 'रूप' से रहित 'ब्रह्माकार-स्थिति' ही 'नमस्कार' है अर्थात् ऐसी 'ब्रह्माकार-स्थिति' हो जाना, जिसमें 'नाम' और 'रूप' का किञ्चिन्मात्र भी चिह्न विद्यमान न रहे, यही 'नमस्कार' का महत्त्व है।

'निगद, उपांशु' और 'मानसिक'—भेद से 'जप' तीन प्रकार का होता है। 'मन्त्र' का ऊँचे स्वर से उच्चारण करने को 'निगद', जिसमें केवल 'जप' करनेवाला ही 'मन्त्र' को सुन सके और दूसरा न सुने, उसे 'उपांशु जप' कहते हैं। इनमें से उत्तमाधिकारी के लिए 'मानसिक जप' विहित है। 'जप' की गणना 'वाचिक यज्ञ' अथवा 'वाचिक पूजा' में की जाती है।

संयतेन्द्रिय-सञ्चारं, प्रोच्चरेन्नादमन्तरम्।
एष एव जपः प्रोक्तो, न च बाह्य-जपो जपः॥

(नित्या-षोडशिकार्णव, ५.३९)

व्याख्यानम्—संयतः निरुद्धः इन्द्रियाणां ज्ञान-कर्मेन्द्रियाणां सञ्चारः स्व-स्व-विषयाभिमुखी प्रवृत्तिः यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा आन्तरं अन्तर-कृत्रिमतया प्रसरन्तं नादं अनाहतं प्रोच्चरेत्। एष एव जपः सर्व-वर्ण-प्रकृति-भूत-नादाभ्यासेन सर्व-मन्त्राणां युग-पदेव सिद्धि-जनकत्वात्। बाह्यो वैखरी-रूप वर्णानुपूर्वी विशेषोच्चारण-रूपो 'जपो' न 'जपः'। नाखिल-मन्त्र-सिद्धि-दायकः। तत्-तदाऽनुपूर्वी मात्र सिद्धि-जनकत्वादिति भावः।

'ज्ञानेन्द्रियों' और 'कर्मेन्द्रियों' द्वारा 'शब्द-स्पर्शादि विषयों' में पहुँचनेवाली 'मानसिक वृत्तियों' को रोककर अपने भीतर स्वाभाविक रूप से विचरण-शील 'अनाहत-नाद' का अनुभव करना ही 'मानसिक जप' है। यह 'नाद वर्ण-माला के अक्षरों का मूल कारण' है और 'अक्षर' ही 'मन्त्रों के मूल कारण' हैं अर्थात् 'अक्षरों के योग' से ही 'मूल-मन्त्रों के बीज' अथवा 'मन्त्र' बने हैं। अतः 'नाद' का अनुभव ही सब 'मन्त्रों की सिद्धि' का देनेवाला है। किसी 'मन्त्र-विशेष' के 'उच्चारण' से ('जप' से) उस 'मन्त्र-विशेष' की 'सिद्धि' प्राप्त होती है, सब 'मन्त्रों' की नहीं। अतः निखिल 'मन्त्रों' के कारण 'नाद का अनुभव' ही सर्व-श्रेष्ठ है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए 'वरिवस्या-रहस्य' (१.४४) का अध्ययन करना उचित होगा।

२. स्तोत्र

'भावनोपनिषद्' कहता है कि समस्त 'अक्षरों' के निवास-स्थान 'नाद' का 'ब्रह्म' में उपसंहार करना ही 'स्तोत्र' है, किन्तु 'स्तोत्र' का अत्यन्त गूढ़ार्थ 'पूजा' का लक्ष्य 'चित्-शक्ति' के 'सत्' और 'असत् धर्मों' (उपाधियों) का 'ध्यान' (चिन्तन) करना है क्योंकि अन्तिम अवस्था में 'चित्-शक्ति' के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है तथा 'चित्-शक्ति' ही 'ब्रह्म' से अभिन्न 'आत्मा' है। अतः 'स्तोत्र-पाठ' का उद्देश्य केवल 'आत्म-चिन्तन' है। एक स्थान पर कहा भी है—"को वा वन्द्यो मदन्यतः" अर्थात् मेरे (आत्मा के) अतिरिक्त दूसरा कौन 'वन्दनीय' (पूजनीय) है? कोई नहीं।

'पूजा-पद्धति' में 'गणेश-ग्रह-नक्षत्र-योगिनी-राशि-रूपिणी' से "चतुराज्ञा-कोष-भूतां नौमि श्रीत्रिपुरामहम्" पर्यन्त द्वादश श्लोक 'स्तोत्र-

पाठ' के लिए लिखे गए हैं। इनके आध्यात्मिक अर्थ के लिए '**नित्या-षोडशिकार्णव**' का '**मङ्गलाचरण**' और '**तन्त्र-राज**' के द्वितीय खण्ड के ८८ से १०० पर्यन्त श्लोक पहले पढ़ लेने चाहिए। वहाँ पर सब अर्थ स्पष्टतया दिया गया है। यहाँ स्थानाभाव के कारण उसका वर्णन नहीं किया गया है।

३. सुवासिनी-पूजा

जीवित पति की स्त्री '**सुवासिनी**' कहलाती है, यतः केवल '**ब्रह्म**' अथवा '**शिव**' ही '**अमर सनातन**' हैं। अतः '**ब्रह्म-शक्ति**' अथवा '**चित्-शक्ति**' ही '**नित्य सुवासिनी**' अथवा '**सदा सुवासिनी**' (सदा '**सुहागिन**') है। अन्य '**सुवासिनियाँ**' केवल गौण '**सुवासिनी**' हैं अथवा '**उपचार-सुवासिनी**' कहलाती हैं। '**सुवासिनी-पूजा**' का उद्देश्य '**गौण सुवासिनियों**' में '**मुख्य सुवासिनी**' की वास्तविक पहचान करनी है।

"**तद्-रूपिणीमेकां शक्तिं सम्पूज्य**"—इस 'कल्प-सूत्र' में '**एकां शक्तिं** '—इन दो पदों का प्रयोग '**अद्वैतता**' को दर्शाने के लिए जान-बूझ कर किया गया है। '**ललिता**' अथवा '**पर-देवता**' के निर्णय का दृढीकरण है अर्थात् '**मुख्य सुवासिनी-सहस्र-नाम**' में '**सुवासिनी**' और '**सुवासिन्यर्चन-प्रीता**'—ये दो नाम दिए गए हैं। अतः उक्त दो नाम '**सुवासिनी-पूजा**' की आवश्यकता के द्योतक हैं।

अलि-पात्र-दान—अर्घ्यादि-उपचारों से '**सुवासिनी-पूजा**' के अनन्तर उपासक उसके (सुवासिनी के) लिए '**अलि-पात्र**' प्रदान करता है। '**अलि**' का अर्थ '**परिस्तुत**' अथवा '**अमृत**' है। '**अलि-पात्र**' '**विशेषार्घ्यामृत**' से परिपूर्ण है और '**विशषार्घ्यामृत**' विश्व और भोक्ता जीव का निरूपक (प्रतिनिधि) है तथा यह '**विशेषार्घ्यामृत**' अद्वैतता का भी निरूपक है। '**अलि-पात्र-प्रदान**' के लिए '**अलि-पात्रं जहि**'—इस मन्त्र का अर्थ निम्न-लिखित है—

"**हे सुभगे देवि! शुद्धि-संयुक्त यह 'अमृत-पात्र' तुझे समर्पित करता हूँ। कृपया इसे स्वीकार कर मेरे शत्रुओं का नाश करें और मुझे यश दें।**"

यहाँ पर शत्रुओं से '**क्रोधादि**' शत्रुओं का और '**यश**' से '**सदानन्द- मय जीवन**' का तात्पर्य है।

'**भेद-भावना**' के दृष्टि-कोण से '**काम-क्रोध**' आदि '**मन की वृत्तियाँ**' उत्पन्न होती हैं और यह भेद '**अज्ञान**' का कार्य है। अतः '**अज्ञान**' के कारण

'**भेद**' उत्पन्न होता है अथवा '**चित्-शक्ति**' के ऊपर '**नाम**' और '**रूप**' के '**मिथ्या अध्यास**' का कार्य है। '**अधिष्ठान-सत्ता**' के यथार्थ ज्ञान के उत्पन्न होने पर '**अज्ञान**' स्वयं विनष्ट हो जाता है और '**अज्ञान**' के '**नाश**' से उसके '**कार्य**' का भी 'नाश' हो जाता है। '**अज्ञान**' और उसके '**कार्य के विनाश**' से '**पूर्णानन्दावस्था**' की '**श्री**' स्वयं द्योतित होने लगती है (चमकने लगती है)। '**सुवासिनी**' के रूप में '**देवी**' नाम और रूप की भिन्नता को स्वीकार कर लेती है।

"**वत्स! तुभ्यं मया दत्तं ....ददाम्यहम्**"—इस मन्त्र को पढ़कर '**सुवासिनी**' उपासक को '**पात्र**' लौटा देती है। उपर्युक्त '**मन्त्र**' निरूपित करता है कि '**नाम**' और '**रूप**' को '**देवी**' स्वयं निकाल देती है और केवल '**सच्चिदानन्द**' को कृपा-पूर्वक '**उपासक**' के लिए दे देती है। '**मुमुक्षु उपासक**' केवल '**मोक्ष-प्राप्ति**' की अभिलाषा करता है और '**अज्ञान**' से उत्पन्न पूर्वोक्त '**काम-क्रोधादि मानसिक वृत्तियाँ मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में बाधाएँ पैदा कर देती हैं।**' यह निश्चित सिद्धान्त है कि '**अखण्डाकार-वृत्ति**' के रूप में '**पर-देवता**' '**अज्ञान**' **से उत्पन्न पूर्वोक्त मानसिक वृत्तियों का नाश कर देती है।**

'**पीत-शेषं कुलामृतं मया दत्तं।**' '**कुलामृत भोग्य, भोक्ता, भोग**' और '**प्रेरित**' (ईश्वर) से विनिर्मित (बने हुए) '**विश्व**' का निरूपण करता है। उसकी (**कुलामृत** की) तथा '**ब्रह्माभिन्न चित्-शक्ति**' की '**भाग-त्याग-लक्षणा**' द्वारा '**एकता**' कर देनी चाहिए अर्थात् '**सुवासिनी**' द्वारा प्रदत्त '**कुलामृत**' और '**चित्-शक्ति**' वास्तव में एक ही हैं।

४. सामयिक पूजा

'**पूजा-पद्धति**' दर्शाती है कि उपासक '**सुवासिनी-पूजा**' के अनन्तर उपस्थित '**सामयिकों**' की गन्धाक्षतादि से पूजा कर उन्हें '**तर्पण**' करने के लिए '**पात्र**' प्रदान करे।

'**सामयिक**' लोग वे हैं, जो '**शिव-शक्ति-सामरस्य**' अथवा '**जीव-ब्रह्मैक्य**' के विषय में सदैव अत्यन्त निपुण हैं। उनकी '**पूजा**' करना उन्हें सन्तुष्ट व प्रसन्न करना है। वे किस बात से सन्तुष्ट होते हैं? यह बात निश्चित है कि वे लोग केवल '**ब्रह्माभ्यास**' से ही प्रसन्न होते हैं, दूसरी वस्तुओं से नहीं।

'शिव-शक्ति-सामरस्य' का चिन्तन उसके (शिव-शक्ति-सामरस्य के) विषय में दूसरे उपासकों से **'वार्तालाप'** करना, उसके **'स्वरूप'** पर परस्पर **'विचार'** करना (तर्क-वितर्क करना) तथा **'एकाग्र मन'** से उस पर **'ध्यान'** करना **'ब्रह्माभ्यास'** कहलाता है—

तच्चिन्तनं तत्-कथनमन्योन्यं तत्-प्रभाषणम्।
एतदेक-परत्वं च, ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

(पञ्च-दशी, ७. १०६)

अतः **'जीव-ब्रह्मैक्य'** के विषय में परस्पर **'वार्तालाप'** करना ही **'सामयिक-पूजा'** है। इस **'पूजा'** की सामग्री **'अखण्डाकार-वृत्ति'** है और उसका (अखण्डाकार-वृत्ति का) निरूपण **'विशेषार्घ्य'** करता है अर्थात् **'विशेषार्घ्य'** स्वयं 'अखण्डाकार-वृत्ति' है।

५. 'तत्त्व-शोधन' और 'हविः-प्रतिपत्ति'

'विशेषार्घ्य-स्वरूप अखण्डाकार-वृत्ति' की सहायता से **'पृथ्वी'** से **'शिव-तत्त्व'**-पर्यन्त **'अशुद्ध, मिश्र'** और **'शुद्ध'**—इन त्रिविध **'षट्-त्रिंशत्'** (३६) **'तत्त्वों'** के विश्लेषण द्वारा **'शिव-स्वरूप आत्मा'** से अभिन्न **'चित्-शक्ति'** का ज्ञान ही **'तत्त्व-शोधन'** का गूढ़ार्थ है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि **'संवित्-रूप पर-देवता'** के ऊपर अध्यासित **'षट्-त्रिंशत् तत्त्वों'** द्वारा बना हुआ यह संसार केवल **'मायिक'** है, वास्तविक नहीं। अतः सबसे पहले **'अशुद्ध तत्त्वों'** का **'स्थूल शरीर'** में, **'मिश्र तत्त्वों'** का **'सूक्ष्म शरीर'** में, **'शुद्ध तत्त्वों'** का **'कारण-शरीर'** में **'लय'** करना तथा पुनः इन **'तीन शरीरों'** को इनके अधिष्ठान **'जीव'** में **'लय'** करना और अन्त में **'जीव-भाव'** से निर्मुक्त होकर (छुटकारा पाकर) **'कूटस्थ भाव'** को प्राप्त करना अर्थात् **'ब्रह्म'** के साथ एक हो जाना **'तत्त्व-शोधन'** है। **'आर्द्रं ज्वलति'**—इस मन्त्र में उपर्युक्त भाव बहुत अच्छे प्रकार से दिखाया गया है। उपर्युक्त **'मन्त्र'** का उच्चारण कर उपासक **'विशेषार्घ्य का चिदग्नि'** में **'होम'** करता है। इस **'मन्त्र'** की व्याख्या चतुर्थ खण्ड के ११३-११४ पृष्ठों पर **'आत्म-पात्र-स्वीकार'** के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से की गई है।

'तत्त्व-शोधन' के अनन्तर केवल **'पूर्ण शिव'** रह जाता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रूप से अनुभूत **'विश्व'** केवल **'पूर्ण ब्रह्म'** है और जो **'विश्व'** से भी परे (विश्वातीत) है, वह भी **'पूर्ण ब्रह्म'** है। **'पूर्ण ब्रह्म'** के

प्रत्यक्षीकरण का अर्थ **'अहं ब्रह्मास्मि'**—इस **'महा- वाक्य'** से सूचित **'दशा'** का अथवा **'अखण्ड भाव'** का अनुभव है, जिसमें **'पूर्ण स्वरूप'** के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस **'दशा'** को ही **'सहजावस्था'** कहते हैं। यही **'विद्योपासना'** का **'चरम लक्ष्य'** है।

नवम खण्ड का सार

विषय	**वासना**
व्यापक मण्डल	अखण्डाकार-वृत्ति।
भूत	अज्ञान-मन।
बलि-दान	स्थूल, सूक्ष्म, कारण - शरीरादिकों के लिए सांसारिक भोगादिकों का प्रदान।
बलि	नाम-रूप।
प्रदक्षिणा	सांसारिक विषयों के पीछे भटकती हुई मानसिक अवस्थाओं का **'आत्मा'** में लय करना।
नमस्कार	ब्रह्म के समान बाह्य व्यवसायों से निर्मुक्त रहना।
जप	नादानुसन्धान।
स्तोत्र	आत्मानुसन्धान।
सुवासिनी-पूजा	**'सुवासिनी'** में **'पर-देवता'** का ज्ञान।
सामयिक पूजा	**'जीव'** और **'ब्रह्म'** की **'एकता'** का विचार।
तत्त्व-शोधन	ब्रह्म-प्राप्ति।

दशम खण्ड

'पूजा-समर्पण' और 'देवतोद्वासन'

१. पूजा-समर्पण

'**भूमिका**' में स्पष्टतया दर्शाया गया है कि '**पूजा**' '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' है तथा पूर्व-खण्डों में भी इस बात का कई बार पुनः पुनः वर्णन किया जा चुका है। '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' **जीव** और **ब्रह्म** के दृढ़ '**ध्यान-स्वरूप**' हैं और '**अखण्डाकार-वृत्ति**' है। इस '**अखण्डाकार-वृत्ति**' को '**वृत्ति-ज्ञान**' भी कहते हैं। इसी का समर्पण '**पर-देवता**' के लिए किया जाना चाहिए अर्थात् इसको '**पर-देवता**' में '**लय**' कर देना चाहिए। '**हृदय, संशय**' और '**कर्मों**' की ग्रन्थियों के उच्छिन्न होने पर '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' का, अथवा दूसरे शब्दों में '**अखण्डाकार-वृत्ति**' का पुनः कोई प्रयोजन नहीं रहता है। अतएव '**विमर्श-ज्ञान**' अथवा '**शुद्ध त्रिपुटी**' भी विनष्ट हो जाते हैं और '**शुद्ध ज्ञान**' का स्वरूप '**ब्रह्म**' केवल अवशिष्ट रह जाता है। '**अवशिष्टावस्था**' की प्राप्ति ही '**पूजा-समर्पण**' का विशिष्टार्थ है।

अज्ञान-कलुषं जीवं, ज्ञानाभ्यासादविनिर्मलम्।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येत्, जलं कतक-रेणु-वत्॥ (आत्म-बोध)

जिस प्रकार '**कतक रेणु**' गँदले जल को स्वच्छ बना कर अपने आप भी गर्द के साथ नीचे बैठ जाती है, उसी प्रकार '**वृत्ति-ज्ञान**' भी '**जीव-भाव**' का नाश कर स्वयं स्थिर हो जाता है। यह '**अवशिष्टावस्था**' ही '**निर्विकल्प समाधि**' है। इसका वर्णन '**त्रिपुरा-रहस्य**' के '**ज्ञान-काण्ड**' की व्याख्या में किया हुआ है—

"ततः प्रोक्त निदिध्यासन-परिपाकात् प्रोक्ताकार-वृत्तेरयत्नेनानुवृत्ति-रूप सविकल्प-समाधिर्भवति। अत्र सविकल्प-समाधौ ध्येय-ध्यात्रादि भेद-परिस्फूर्तिरस्ति। एतस्यैव अभ्यास-प्रकर्षेण परिपाके 'एवमहं ध्यायामीत्यन्तः' सूक्ष्माभि-मानांश-विगलने ध्येय-शुद्ध-चिन्मात्रात्मक-स्थिति-परिशेषो निर्विकल्प-समाधिः॥

२. देवतोद्वासन

'सहज स्थिति' में **'शिव-शक्ति-सामरस्य'** अथवा **'अद्वैतावस्था'** है। उसमें अर्थात् **'सहज स्थिति'** में **'विमर्श-वृत्ति'** की आवश्यकता नहीं रहती। अतएव वह स्वयं विनष्ट हो जाती है। **'विमर्श'** का लोप अर्थात् **'विमर्श-वृत्ति'** का विनाश ही **'देवतोद्वासन'** है। यह **'पर-देवता चिच्छक्ति'** ही **'विमर्श'** है। समस्त **'आवरण-देवता' कर्म, भक्ति, वैराग्य, गुरूपसादन, लय, मन्त्र** और **हठ-योग** इत्यादि तथा **श्रवण, निदिध्यासन** आदि के **'आकार-स्वरूप'** हैं और इन सबका **'चित्-शक्ति'** में **'लय'** हो जाता है और **'चित्-शक्ति'** भी **'वचन'** (वाणी) और विचारों से अगम्य **'महा-प्रकाश'** में लय हो जाती है।

'पूजा-पद्धति' कहती है कि सम्पूर्ण **'आवरण-देवताओं'** का शरीर में **'लय'** करने के अनन्तर **'खेचरी-मुद्रा'** द्वारा **'पर-देवता'** को **'हृदय'** में स्थापित कर देना चाहिए। **'हृदय'** को दूसरे शब्दों में **'दहराकाश'** भी कहते हैं। **'हृदय'** अथवा **'दहराकाश'** में **'परमात्मा'** से अभिन्न **'चित्-शक्ति'** सर्वदा निवास करती है। **'पूजा'** के समय **'पर-देवता'** यन्त्र अथवा मूर्ति आदि बाह्य वस्तु में स्थापित करने के लिए **'हृदय'** से **'आवाहित'** की गई थी, अतः **'पूजा'** के उपरान्त उसे **'हृदय'** में पहुँचा देना ही (स्थापित करना) ही नितान्त आवश्यक है—

'हृदि विसर्जयेत्'—इति स्व-प्रतिष्ठिततया शिवमनुसन्दध्यादित्यर्थः। हृदयं हि तस्य नियतं स्थानम्।

'ईश्वरः सर्व-भूतानां हृद्-देशेऽर्जुन! तिष्ठति', इति स्मृतेः 'हृदयं तद् विजानीयात्', इत्यारभ्य 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा, स शिवः, स हरिः, सेन्द्रः, सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इत्यन्त-श्रुतेश्च॥

(सूत-संहिता, १.४.१२ टीका)

❀ ❀

दशम खण्ड का सार

विषय	**वासना**
पूजा-समर्पण	'अखण्डाकार-वृत्ति' का 'पर-देवता' में 'लय'।
देवतोद्वासन	'ब्रह्म' के अनुभव होने पर 'ज्ञान' की अनावश्यकता।

❀ ❀ ❀

एकादश खण्ड

'शान्ति-स्तव' और 'विशेषार्घ्योद्वासन'

१. शान्ति-स्तव

'शान्ति-स्तव' का अर्थ **'नित्य-त्रिपुटी'** अथवा **'नित्य-प्रसन्नता'** (नित्यानन्द) है। सब प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होने पर **'शान्ति'** प्राप्त होती है। **"सोऽश्नुते सर्वान् कामान्"**,—इस **'तैत्तिरीयोपनिषद्'**-वचन के अनुसार केवल एक **'आत्म-ज्ञानी'** ही ऐसा है, जिसके विषय में यह कहा जाए कि उसकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो गई हैं। **'आत्म-ज्ञानी'** ही कृत-कृत्य है। उसको अब कोई भी कार्य करना शेष नहीं रह जाता है। अतएव वह न तो **'प्रवृत्ति-मार्ग'** में और न **'निवृत्ति-मार्ग'** में ही रहता है। उसकी उपमा प्रशान्त निस्तरङ्ग सागर से की गई है। इस अवस्था का नाम **'शान्ति'** है। जो **'ज्ञानी'** मैत्री, करुणा आदि अपने स्वाभाविक गुणों के कारण इस अवस्था को प्राप्त हो गया है, वह चाहता है कि सम्पूर्ण संसार उसी महत्त्व को प्राप्त हो जाए, जो उसने प्राप्त किया है। अतएव वह **'परमेश्वर'** से प्रार्थना करता है कि **"हे परमेश्वर! तुम समस्त प्राणियों के ऊपर अपनी कृपा करो।"** इस प्रकार की प्रार्थना को **'शान्ति-स्तव'** कहते हैं। **"लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु"**—इत्यादि प्रार्थनाएँ साधारण प्रयोग में लाई जाती हैं।

२. विशेषार्घ्योद्वासन

चतुर्थ खण्ड में कहा गया है कि **'विशेषार्घ्य'** यथार्थ **'विशेष ज्ञान'** है। यह **'ज्ञान'** केवल **'शुद्ध चित्'** में ही उत्पन्न होता है—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"**, **"अहं ब्रह्मास्मि"**—यह अनुभव केवल **'अखण्डाकार-वृत्ति'** में होता है और यह **'अखण्डाकार-वृत्ति'** शुद्ध-सत्त्वाधिक **'मन'** की पहुँच के भीतर है। **'शुद्ध सत्त्वाधिक मन'** की **'अखण्डाकार-वृत्ति'** ही **'तुरीयावस्था'** कहलाती है। **'सविकल्प समाधि'** भी इसी **'अवस्था'** का नाम है। **'निर्विकल्प समाधि'** वह अवस्था कहलाती है, जिसमें **'सविकल्प समाधि'** में विद्यमान **'शुद्ध त्रिपुटी'** विनष्ट हो जाती है और **'मन'** अद्वितीय **'शिव'** में लीन हो

जाता है। '**अद्वैत-भावना**' और '**अद्वैतावस्था**' के भेद से '**निर्विकल्प समाधि**' दो प्रकार की है। जब '**निर्विकल्प समाधि**' अन्तःकरण की '**अज्ञात वृत्ति**' के साथ संश्लिष्ट होती है, तब '**अद्वैत-भावना**' '**निर्विकल्प समाधि**' कही जाती है। '**पूजा-समर्पण**' और '**देवतोद्वासन**' इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं। इस अवस्था में अभ्यास दृढ़-तर हो जाने से '**शिवाकार-वृत्ति**' निश्चल हो जाती है। यह '**वृत्ति-हीन अवस्था**' ही '**उपशान्तावस्था**' अथवा '**अद्वैतावस्थान निर्विकल्प समाधि**' कहलाती है। जिस प्रकार सन्तप्त लौह-दण्ड के ऊपर छिड़का गया जल-बिन्दु लोहे में ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार इस अवस्था में विमर्श-रूपिणी शिवाकार '**चित्-वृत्ति**' महा-प्रकाश '**शिव**' में विलीन हो जाती है। महा-पुरुषों की सम्मति में '**विशेषार्घ्योद्वासन**' यही तत्त्व है। इस अवस्था में ही '**शान्ति-स्तव**' का पाठ होता है—

ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वापि न चिन्त्यते।
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेत्, वैदेही मुक्त एव सः॥
निश्चयं च परित्यज्याहं ब्रह्मास्मीति निश्चयम्।
आनन्द-भरित-स्वान्तो, वैदेही मुक्त एव सः॥

(तेजोबिन्दु उपनिषद्)

"मैं ब्रह्म हूँ", "मैं चित् हूँ"—इन विचारों से भी जो परे है अर्थात् जो "मैं ब्रह्म हूँ"—यह चिन्तन भी नहीं करता और जो स्वयं '**चित्- स्वरूप**' है, वह निःसन्देह '**विदेह-मुक्त**' है। "**मैं ब्रह्म हूँ**"—इस प्रकार के दृढ़ विचार से भी जो परे है और '**आनन्द से परिपूर्ण**' है, वह निः-सन्देह '**विदेह-मुक्त**' है—

यया यया भवेत् पुंसां, व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्, साध्वी सा च व्यवस्थितिः॥

(नैष्कर्म्य-सिद्धिः)

अर्थात् मनुष्य जिस प्रक्रिया अथवा रीति से प्रत्यगाभिन्न '**ब्रह्म**' अथवा अन्तरात्मा से अभिन्न '**ब्रह्म**' के प्रत्यक्ष '**ज्ञान**' को प्राप्त करता है, वही सर्व-श्रेष्ठ है अर्थात् '**अद्वैत वेदान्त-प्रक्रिया**' ही सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है।

निर्विशेषे पर-ब्रह्मण्यात्म-चित्त-स्थिरीकृतिः।
उपासनमिति प्रोक्ता, तद्-विना को न मुच्यते॥

इस प्रकार '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**'-स्वरूप '**श्रीविद्योपासना**' की प्रक्रिया समाप्त होती है अर्थात् '**श्रीविद्योपासना**' '**निदिध्यासन**' और '**सविकल्प समाधि**' का स्वरूप है और उपर्युक्त प्रकार से समाप्त होती है।

तत्त्वं पदार्थ - श्रवणादि-शिष्टं, ब्रह्मैक्यमस्मीति विचिन्त्य नित्यं।
ऐकात्म्यमासाद्य विनष्ट-बन्धा, य एव धन्याः पुरुषोत्तमास्ते।।

आविद्यकाञ्जैव-गुणाँस्तथाऽन्यान्. माया-मयानैश-गुणाँश्च हित्वा।
विद्या-मयान् स्वीय-गुणान् भजन्तः, सद्यो विमुक्ता विबुधोत्तमास्ते।।

मत्तो नान्यत् - पूर्ण - समाधावविकल्पे,
यज्जीवेशाद्येतदसत्यं जड - दृश्यम्।
सम्यक् - ज्ञानी मन्यत एवं व्यवहारे,
प्रारब्धार्थोऽप्यत्र न दैन्यं भजते हि।।

ज्ञाताज्ञातान् सर्व - विकारानपलाप्य,
श्रुत्याचार्य - प्रोक्त - सरण्या भुवि विद्वान्।
स्वास्थ्यं भेजे निर्विचिकित्सो निर्मानः,
सोऽयं धन्यः सर्व - शरीरिष्वखिलात्मा॥

महा - वाक्यारण्या मथन - जनितः स्वात्म - हुत - भुक्,
समं विद्या - पत्न्या विजन - तल - शालामपि विशन्।
परं जेतुं लोकं सकल-करणैरेव सहितः,
समाधिं चिद्-रूपे यजति खलु विद्वन् मखि-वरः॥

शान्त्या युक्तं गुरु-जन-भक्तं, लब्ध्वा शिष्यं निज-पद-सक्तम्।
कृत्वा लोके स जयति मुख्यः, स्वात्मारामः पर-हित-बुद्धिः॥
(तत्त्व-सारायणे, उपासना-काण्डः)

न शब्द-शास्त्र व्युत्पत्तिर्न न्याय-निपुणा मतिः।
केवलं गुरु-पादाब्ज-स्मृतिरत्र गति-प्रदा॥

॥ इति शिवम् ॥

उपयोगी प्रकाशन